॥ श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ॥

॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः॥

द्वैताद्वैत विवेकः

सुदर्शन चक्रावतार श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य

पं. भगीरथ झा मैथिल

* श्रीसर्वेश्वरो जयति *

॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ॥

द्वैताद्वैतविवेकः

सानुवादः --

स चायं मिथिलामहीमण्डलान्तर्गतढंगाहरिपुरग्रामवासि-
न्यायवेदान्ताचार्य्यमैथिलझोपाख्यश्रीभगीरथ-
शर्मविरचितः श्रीकृष्णपदार्पितश्च

प्रकाशक--

अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, निम्बार्कतीर्थ

सलेमाबाद, पुष्करक्षेत्र जि. अजमेर (राज०)

वि० सं० २०६५ श्रीनिम्बार्काब्द ५१०४

॥ श्रीसर्वेश्वरो जयति ॥

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर

श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज

की

आशीर्वादात्मक भावाभिव्यक्ति

श्रीसुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य जगद्गुरुवरेण्य श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यचरणों ने अपने ''वेदान्तकामधेनु-दशश्लोकी'' में चित्, अचित्, ब्रह्मस्वरूप, उपासना, ब्रह्मात्मकता, शरणागतिः, भक्तिः, पञ्चार्थविवेक-का जिस प्रकार अलौकिक दिव्यतम निरूपण किया है, उसी प्रकार मिथिलावास्तव्य विद्वद्वरेण्य पण्डितप्रवर श्रीभगीरथजी झा न्यायवेदान्ताचार्य ने प्रस्तुत ''द्वैताद्वैत-विवेक'' ग्रन्थ में समग्र वेदान्त का सार सर्वस्व समाविष्ट किया है। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य के स्वाभाविक-द्वैताद्वैत सिद्धान्त का नव्य-न्याय पद्धति से जिस विधा से प्रतिपादन किया है वह निश्चय ही नितान्तरूपेण अतीव विलक्षण है । आपका उद्भट वैदुष्य और अगाध श्रीभगवन्निष्ठा अनुपमेय है। न्याय-वेदान्त तत्त्व के प्रखर मनीषी महानुभाव ही इस ''द्वैताद्वैत विवेक'' के यथार्थ बोध को प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं । वस्तुतः इस ग्रन्थ विषयक जितनी भी विवेचना की जाय अत्यल्प है ।

विद्वद्धौरेय पं० श्रीभगीरथजी झा का हमसे अनेकों बार साम्प्रदायिक दार्शनिक प्रसङ्गों पर चर्चा करने का अवसर मिला । वि० सं० २००६ के कार्तिक मास में कानपुर में स्वामी श्रीनारदानन्दजी द्वारा समायोजित सार्वभौमसाधुमण्डल के विराट् सम्मेलन समारोह में श्रीसर्वेश्वर प्रभु सहित हमारे संग रहने का अनुपम अवसर मिला । उस पावन अवसर पर आपसे निम्बार्क वेदान्त-दर्शन विषयक एवं निम्बार्कोपासना पर विविध रूप से प्रासङ्गिक विवेचन श्रवण करने का अवसर मिला । इसी प्रकार श्रीवृन्दावन में भी बहुशः आपसे श्रीनिम्बार्कोपदिष्ट वृन्दावन नवनिकुञ्ज-रसोपासना पर एवं रसिक राजराजेश्वर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज प्रणीत ''श्रीमहावाणी'' के सिद्धान्त सुख के अनेक पदों पर विस्तृत व्याख्या भी

श्रुतिगत हुई । आपका न केवल व्याकरण-न्याय-वेदान्त पर अपितु श्रुति स्मृतिपुराणतन्त्रादि ग्रन्थों एवं रस परक वाणी ग्रन्थों का भी अद्भुत अनुशीलन अनिवर्चनीय था । महिनों गीतावाटिका-गीता प्रेस-गोरखपुर में भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार तथा श्रीचक्रधरजी (श्रीराधे बाबा) आपसे निम्बार्क निकुञ्जरसोपासना परक वैदुष्यपूर्ण विवेचन श्रवण कर अपने को परम सौभाग्यशाली मानते थे । आपका समग्र शास्त्रों पर अत्यन्त गम्भीर अनुशीलन एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा आपकी अवर्णनीय थी । प्रबल वैदुष्य के साथ आपका दैन्य स्वरूप अनुकरणीय तथा द्रष्टव्य था । "कृपाऽस्य दैन्यादियुजि प्रजायते" श्रीनिम्बार्क भगवान् के इस उपदेश का प्रत्यक्ष दर्शन आपमें निहित था । आपने विविध ग्रन्थों का प्रणयन किया । जब हमने श्रीनिम्बार्क भगवान् द्वारा विरचित "श्रीप्रातःस्तवराज" की व्याख्या रचकर आपके समीप मिथिला डाक द्वारा प्रेषित की जिसे अवलोकन कर अपने अनुपम भाव अभिव्यक्त किये । "द्वैताद्वैत विवेक" पर आपके द्वारा हिन्दी भाषानुवाद प्रकाशित हुआ । किन्तु अन्तिम भाग का अनुवाद किसी हेतुवश आप न कर सके । हमारी यह प्रबलतम भावना थी कि इसके अन्तिम अंश का भी भाषानुवाद हो जाय । हमने श्रीवृन्दावन में श्रीनिम्बार्क संस्कृत महाविद्यालय के सेवानिवृत्त प्राचार्य-राष्ट्रपति पुरस्कृत निम्बार्कभूषण विद्वद्वर पं० श्रीवैद्यनाथजी झा न्याय-व्याकरणवेदान्ताचार्य संस्कृत एम. ए. के समक्ष इसके अनुवाद के लिये प्रेरित किया जिन्होंने अपने वार्द्धक्यकाल में भी तत्काल इसके अन्तिम अंश का भाषानुवाद एवं इसकी भूमिका तथा ग्रन्थ-प्रणेता का साङ्गोपाङ्ग परिचय आचार्यपीठ प्रेषित कर दिया । जिसका यहाँ प्रकाशन कार्य सम्पन्न हो चुका है । इसके टङ्कणजन्य अशुद्धि-संशोधन कार्य आचार्यपीठस्थ श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य निम्बार्कभूषण श्रीवासुदेवशरणजी उपाध्याय व्या० सा० वेदान्ताचार्य ने बड़े ही मनोयोग से सपरिश्रम किया । जिसके फलस्वरूप यह प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित होकर विद्वज्जनों के समक्ष उपस्थित है। जिसे सम्यक् अनुशीलन कर निम्बार्क दर्शन का यथार्थ बोध प्राप्त कर सकेंगे ।

मिति मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा
रविवार, वि० सं० २०६४, दिनांक २३ /१२/२००७

प्रवर्तना

(१) वेदान्तके द्वैताद्वैत प्रस्थान में (१) **चित्**-(जीव-अणु, अनन्त, सच्चिदानन्दस्वरूप, विभुज्ञान धर्म्मी) (२) **अचित्**- (**प्राकृत**[1]-त्रिगुणात्मक परिणाम कालनियम्य,) **काल**[2]-(प्रकृति-प्राकृत-नियामक नित्य अखण्ड उपाधिभेदसे क्षणमुहूर्तादिव्यवहारहेतु,) **अप्राकृत**[3]- (प्रकृतिकालातीतनित्य सच्चिदानन्दस्वरूपधर्मतः ज्ञानहीन अतएव अचित्पदवाच्यपरिणामादि विक्रियानर्ह अपरिच्छिन्न) (३) **ईश्वर**- (इन दोनों का नियामक शुद्ध सच्चिदानन्दघनस्वरूपविग्रह, निरतिशयगुणशक्तिपरिपूर्णसर्वहेयप्रत्यनीकस्वभाव) भेद से पदार्थत्रय माने गये हैं । पर ये **पदार्थत्रय** योगशास्त्रीय पदार्थत्रय जैसे स्वतन्त्रसत्ताश्रय नहीं । किन्तु एक ही स्वतन्त्रसत्ताश्रय **ईश्वरका) इतर द्वय** भिन्नाभिन्नस्वभाव अपृथक्सिद्ध शक्ति विशेष हैं, यथा आकाश की शब्दशक्ति सूर्य की प्रकाशशक्ति। **फलतः** एक ही स्वतन्त्रसत्ताश्रय ईश्वरतत्त्व हैं । उन्हीं के सत्ताधीन सत्ताश्रय अपृथक् सिद्ध भिन्नाभिन्नस्वभाव तदात्मक अन्यतत्त्वद्वय हैं । यही **वैदान्तिक** वैष्णवसिद्धान्त का संक्षिप्त रूप है । इसका मैंने इस लघु निबन्ध के ३ अंश में स्पष्टीकरण किया है।

(२) **इस सिद्धान्त में** अन्यवादी द्वारा दो प्रश्न विशेषरूप से उपस्थित किये जाते हैं । (१) **एकविज्ञानसे** सर्वविज्ञान प्रतिज्ञानिर्वाह कैसे? (२) भेद अभेद दोनों का सामानाधिकरण्य **व्याघात** क्यों नहीं ? इन दोनों प्रश्नों का सविमर्श उत्तर मैंने **वेदान्ततत्त्वसमीक्षा** में किया है । श्रीवृन्दावनधाम वंशीवट निवासी महात्मा पं० श्रीकिशोरदासजी की शुभ प्रेरणा से प्रेरित होकर मैंने द्रव्याभाव से अमुद्रित बृहत्काय स्वरचित वेदान्ततत्त्वसमीक्षा से "द्वैताद्वैतविवेकः" अंश को उद्धृत कर पृथक् सम्पादन कर दिया है । जिसका पदार्थक्रम तीन अंशों में विभक्त, अपर पृष्ठ में मुद्रित है ।

(३) कृतज्ञताप्रकाश ।

परञ्च यह भी अमुद्रित ही रहता, यदि महात्मा श्रीकिशोरदासजी से प्रेरणा प्राप्त श्रीवृन्दावन "गौतमऋषि" आश्रमनिवासी परमविरक्त पं० श्री बिहारीदासजी "त्यागी" इसके मुद्रण के लिये रु० प्रदान नहीं करते । आप एक महान् विद्वान् उदारचेता परमविरक्त पूर्णतपस्वी स्वसम्प्रदाय (निम्बार्क सम्प्रदाय) निष्ठ महापुरुष हैं । आपकी उदार प्रवृत्ति से बहुत साम्प्रदायिक पुस्तकें मुद्रित हुई हैं । श्रीनिम्बार्क महासभा श्रीनिम्बार्क महाविद्यालय भी "महाभवन" दान से प्रचुर ऋणी है । यह "द्वैताद्वैतविवेकः" आपके ही द्रव्यों से मुद्रित आपके वरद करकमलों में इस अकिञ्चन लेखक द्वारा समर्पित किया जाता है ।

--श्रीभगीरथ झा० मैथिल

भूमिका

द्वैताद्वैतविवेक के लेखक मिथिलावासी थे । मिथिला दर्शन की जन्मभूमि है । जहाँ के जनक उपाधिधारी राजाओं के यहाँ सतत ज्ञानचर्चा वेदान्तचर्चा होती रहती थी । जहाँ आस्तिक छः दर्शनों में चार दर्शनों के आचार्य अवतीर्ण हुये थे । जहाँ मण्डन, वाचस्पति, उदयन गंगेश, पक्षधर, अयाची, शंकर, महेश जैसे उद्‌भट दार्शनिक हुये थे । उसी मिथिला के उपर्युक्त शृङ्खला में इस ग्रन्थ के लेखक का भी सारा जीवन दर्शन शास्त्र के अध्ययन से बीता । इनका दार्शनिक चिन्तन महान् था । बचपन से ही दर्शन की ओर इनका विशेष रुझान था । दर्शनों में न्याय, वेदान्त का विशेष अनुशीलन था। आप जन्मान्तर संस्कारवश शैशववय से ही तत्त्वान्वेषी थे । साम्प्रदायिक दुराग्रह से रहित होकर इनका वेदान्तानुशीलन था । ब्रह्मसूत्र आधारित उपलब्ध समस्त समस्याओं का इन्होंने तुलनात्मक अध्ययन किया था । विशेषतया प्रस्थानत्रयी का स्वतन्त्रचिन्तन सदा किया करते थे । अपना कोई पक्षपात नहीं था, अपना कोई सम्प्रदाय भी तब तक नहीं था ।

मिथिला में अधिकांश विद्वान् शैव या शाक्त होते थे । इनके सभी सहाध्यायी तथा गुरुजन शैव या शाक्त थे । वहाँ शांकर वेदान्त का अधिकतः प्रचलन था । शंकर के अद्वैतवाद की दो शाखायें प्रसिद्ध हैं--विवरण प्रस्थान तथा भामती प्रस्थान । इनमें द्वितीय प्रस्थान का नेतृत्व मिथिलावासी दार्शनिकों के हाथ में था । जिनके जन्मदाता विश्वविख्यात दार्शनिक वाचस्पति थे । दोनों प्रस्थानों में अनेक मतभेद हैं, जिनमें प्रवृत्ति मूलक वेदान्त एवं निवृत्ति-मूलक वेदान्त प्रसिद्ध है । मिथिला में प्रवृत्तिमूलक अद्वैत वेदान्त का ही प्रचार है जिसका आधार जनक, याज्ञवल्क्य, गौतम आदि मैथिल ऋषि-महर्षियों द्वारा प्रवर्तित मैथिल सम्प्रदाय ही है । निवृत्तिमूलक वेदान्त के अनुयायी साधु, सन्यासी आदि महात्मा होते हैं । प्रवृत्ति मूलक वेदान्त के आचार्यों एवं अनुयायियों में मण्डन, वाचस्पति, उदयन, गंगेश आदि धुरंधर आचार्य माने जाते हैं ।

गुरुदेव का इन सभी प्रस्थानों का गहरा अध्ययन था । परन्तु आपको उपर्युक्त कोई भी विचारधारा प्रभावित नहीं कर सकी । आपको अपने निष्पक्ष दुराग्रह रहित श्रौत चिन्तन में निर्विशेष ब्रह्मवाद, विवर्तवाद

तथाकथित माया-वाद, एकत्ववाद आदि बहुप्रचारित मान्यतायें श्रुति सम्मत प्रतीत नहीं हुयीं । उक्त वादों में श्रुतिस्वारस्य नहीं दीखा । श्रुतियों में उभयविध वाक्यों का प्रत्यक्ष सद्‌भाव देखकर आपको स्वाभाविक भेदाभेदवाद ही श्रुति सम्मत प्रतीत हुआ । श्रुतियों एवं ब्रह्म सूत्रों में स्पष्ट सविशेषवाद दिखाई दिया । ब्रह्मसूत्र में एक भी सूत्र निर्विशेष सूचक नहीं मिला फलतः चिद् अचिद् ईश्वर त्रितय तत्त्व सत्ता एवं तीनों में स्वाभाविक भेदाभेद का सिद्धान्त ही उन्हें स्पष्टतया प्रतीत हुआ । ये तीनों तत्त्व भी योग शास्त्र की तरह स्वतन्त्र तत्त्व नहीं किन्तु एक ही ईश्वर तत्त्व के अपृथक् सिद्ध शक्ति द्वय के रूम में श्रुति सम्मत प्रतीत हुआ जो आद्याचार्य निम्बार्क भगवान् एवं इस सम्प्रदाय का सरल सिद्धान्त है।

इस विचारधारा में दो प्रश्न विरोधियों द्वारा उठाये जाते है प्रथम भेदाभेद का समानाधिकरण्य कैसे ? दूसरा-तत्त्वत्रय स्वीकार करने पर एक विज्ञान से सर्वविज्ञानवाद प्रतिज्ञा की सिद्धि कैसे ?

इन्हीं दोनों प्रश्नों का समाधान करने के लिये आपने ''द्वैताद्वैत विवेक'' नामक ग्रन्थ की रचना की । यद्यपि इन सभी विषयों पर आपने स्वरचित ''श्रीगोपालतापिनी उपनिषद् भाष्य वेदान्ततत्त्व समीक्षा'' में अति विस्तार से विवेचन किया है । उस ग्रन्थ में तो सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्र का ही विवेचन है, एक विज्ञान से सर्व विज्ञानवाद पर तो कई पृष्ठों में गम्भीर विवेचन किया है, परन्तु सम्प्रदाय के विशिष्ट विद्वान् सन्त शिरोमणि गोलोकवासी वंशीवट निवासी पं० श्रीकिशोरदासजी के विशेष अनुरोध पर आपने उक्त ग्रन्थ के आधार पर उसी के सारांश रूप में लघु ग्रन्थ के रूप से इसकी रचना की-जिसे वृन्दावनवासी गोलोकवासी त्यागी शिरोमणि पं. श्रीबिहारीदासजी ने प्रकाशित किया ।

इस ग्रन्थ में भेदाभेद का जैसा उपपादन जैसा ठोस परिष्कार है-जिस प्रकार इसमें सामानाधिकरण्य का उपपादन है, वैसा आज तक सम्प्रदाय के किसी आचार्य ने किसी ग्रन्थ में नहीं किया था और ना ही भेदवादी किसी अन्य वैष्णवाचार्यों ने किया था । यह विवेचना इतनी प्रौढ इतनी शास्त्रीय है, जो देखते ही बनती है, पर है यह विद्वद्भोग्य इसकी महत्ता दार्शनिक विद्वान् ही समझ सकते हैं । विशेषतया नव्य न्याय के विद्वान् ही इसकी विशेषता जान सकते हैं । और उनको ही इसमें आनन्द आ सकता है । भेद

की परिभाषा, अभेद की परिभाषा इस ग्रन्थ की असाधारण विशेषता है । तथा द्वैत और अद्वैत का परिष्कार है और उसके सामानाधिकरण्य का भी उत्तम उपपादन है । ऐसा परिष्कृत भेद अभेद न मानने पर भेदाभेद का कथमपि सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता । जो केवल भेदवादी वैष्णवाचार्य हैं उनको भी भेद की श्रौत परिभाषा पृथक् करनी होगी अन्यथा 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' श्रुति के अनुसार चिदचिदात्मक समस्त प्रपञ्च के ब्रह्मात्मक होने से उसमें तार्किक सम्मत भेद कैसे हो सकता है ? यह विचारणीय है ।

इस ग्रन्थ में चित्-अचित्-ईश्वर तीन तत्व माने गये हैं जिनमें चित्-अचित् को ब्रह्म की अपृथक्सिद्ध शक्ति स्वीकार किया गया है । और इन दोनों शक्तियों की आत्मा स्वतन्त्र सत्ताश्रय स्वरूपतः धर्मतः तथा विग्रहादि से भी सच्चिदानन्द प्रधान परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ईश्वर पदार्थ माने गये हैं। इस ग्रन्थ में सम्प्रदायोक्त चित्-अचित् ईश्वर इस विभाग पर भी अति गहन विचार है । स्वरूप और विग्रह की अभिन्नता पर अच्छा विवेचन है श्रीराधाकृष्ण युगलस्वरूप के भेदाभेद पर विचार है, श्रीराधाकृष्ण युगल की एकात्मता पर बहुत ही विचार किया गया है, तथा अनेकानेक प्रमाणों द्वारा श्रीयुगल की एकात्मकता का समर्थन है । युगल मिलकर ही ईश्वर है ईश्वरत्व पर्याप्ति सम्बन्ध से युगल में ही है । सम्प्रदाय की इस असाधारण विशेषता का समर्थन पूर्वाचार्यों के वचनों द्वारा सिद्ध किया गया है ।

प्राकृत-अप्राकृत-काल सभी तत्त्वों का स्वरूप निरूपण कर सबको ब्रह्मात्मक मानकर सबके साथ स्वाभाविक भेदाभेद का जैसा विवेचन इस गन्थ में है वह देखते ही बनता है ।

अन्त में बताया गया है कि यह भेदाभेद सिद्धान्त श्रीरामानुजाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य तथा वैष्णवाचार्यों का सम्मत सिद्धान्त है, जो उनकी व्याख्या से सिद्ध किया गया है ।

इस पस्तुक में तीन अंश हैं-प्रथम अंश में द्वैताद्वैत तथा भेदाभेद के परिष्कार का विस्तार है, ब्रह्म के सविशेषत्व निर्विशेषत्व का भी विचार है । द्वितीय अंश में तादात्म्य पदार्थ एवं ब्रह्मात्मकत्व पदार्थ का गम्भीर विवेचन है, तथा तत्त्वत्रय स्वीकार करने पर भी एक विज्ञान से सर्वविज्ञानवाद के समर्थन का उपपादन अति समीचीन है ।

तृतीय अंश में चित्-अचित्-ईश्वर श्रीयुगल तत्त्व तथा स्वरूप

विग्रह भेदाभेद का अतिविलक्षण विवेचन है, जो द्रष्टव्य है । इस प्रकार पृथक् पृथक् भेदाभेद का विस्तृत विवेचन अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता, अतएव यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है ।

इस ग्रन्थ के प्रथम दो अंशों का अनुवाद श्रीगुरुदेव ने स्वयं किया था-तृतीय अंश का अनुवाद किसी कारणवश नहीं कर सके थे ।

यह ग्रन्थ वर्तमान आचार्य जगद्गुरु परम पूज्य अनन्त श्रीविभूषित श्री ''श्रीजी'' महाराज को अत्यन्त प्रिय लगा, महाराजश्री की बड़ी इच्छा थी कि इसके तृतीय अंश का भी अनुवाद हो जाय और इसका पुनः द्वितीय संस्करण सज-धज के साथ प्रकाशित किया जा सके । महाराजश्री की आज्ञा से मैंने इसके तृतीय अंश का अनुवाद किया । मेरी ऐसी योग्यता नहीं थी कि पूज्य गुरुदेव के इस अति गम्भीर ग्रन्थ का अनुवाद कर सकूँ-परन्तु उन्हीं श्रीगुरुदेव की कृपा से यथा सम्भव मैंने अनुवाद किया है, अनुवाद में भूल अवश्य हुई होगी, कारण विषय अति गम्भीर है, इसका अनुवाद केवल विद्या के बल से सम्भव नहीं, यह परम गुह्य विषय है, मन्त्रों का विषय है, तत्त्वज्ञों का विषय साधना का विषय है, मुझ जैसा संसारी प्राणी भला इसके रहस्य को क्या समझे, मैंने तो केवल आचार्यचरण की आज्ञा का पालन किया है-भूल के लिए महाराजश्री तथा नित्यलीलालीन गुरुदेव क्षमा करेंगे ।

पर इतना मैं जानता हूँ कि यह पुस्तक ''वेदान्त कौस्तुभ प्रभा'' एवं ''अध्यास गिरिवज्र'' की तरह सम्प्रदाय का कवच स्वरूप है-इस ग्रन्थ को सहस्राधिक प्रतियों में छपवाकर सभी सम्प्रदायों के आचार्यों एवं देश-विदेश में विख्यात दार्शनिकों के समीप भेजा जाय । मेरा विश्वास है कि शांकरभाष्य पर मिथिला निवासी दार्शनिक सार्वभौमाचार्य वाचस्पति की भामती व्याख्या से जिस तरह शांकरभाष्य का सम्पूर्ण भारतवर्ष में सादर प्रचार हुआ, उसी प्रकार एक मिथिलावासी अभिनव वैष्णवाचार्य गुरुदेव श्रीभगीरथजी झा के इस परिष्कार से दार्शनिक जगत् में-स्वाभाविक भेदाभेद का समादर तथा व्यापक प्रचार होगा।

-वैद्यनाथ झा (मिथिला)
व्या. वेदान्ताचार्य, एम. ए. संस्कृत (राष्ट्रपति सम्मानित)
पूर्व प्राचार्य-श्रीनिम्बार्क संस्कृत महाविद्यालय, वृन्दावन (उ.प्र.)
सम्प्रति - श्रीराधामाधवकुञ्ज, गोशालागार वृन्दावन में निःशुल्क विद्यादान

लेखक का परिचय

लेखक मिथिलानिवासी थे । आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व उत्तर विहार में मिथिलाञ्चल के मधुवनी जनपदान्तर्गत ढंगा हरिपुर में विशुद्धमैथिल ब्राह्मण कुल में आपका जन्म हुआ था।

मिथिलाञ्चल महान् देश भारत का वह प्रदेश है, जिसकी चर्चा वेद के शतपथ ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण, महाभारत, विष्णुपुराण तथा श्रीमद्-भागवत महापुराण सहित समस्त पुराणों में है । जहाँ की धरती से जगज्जननी जानकी प्रकटी थीं, जहाँ के समस्त राजा, आदि राजा निमि से लेकर बहुलाश्व पर्यन्त ५३ जनक वंशीय राजा महर्षि याज्ञवल्क्य की कृपा से गृहस्थाश्रम में रहते हुये भी आत्मविद्या विशारद होते थे । 'एते वै मैथिला राजन्नात्मविद्याविशारदाः'' श्रीमद्भागवत नवम स्कन्ध) विदेह एवं जनक उपाधिधारी इन मैथिल राजाओं की सभा में सदा सर्वदा आत्मचर्चा एवं आत्मचिन्तन होता रहता था । सारे विश्व के आत्म जिज्ञासु किसी समय जनक महाराज के यहाँ ज्ञानार्जन हेतु पहुँचा करते थे । ''जनको वै जनक इति जना यत्र धावन्ति''(बृ. उ.) इस वंश के राजा ही नहीं अपितु रानियाँ भी तत्त्व ज्ञान परायणा होती थीं। ''तत्त्वज्ञो जनको राजा इति लोकेषु विश्रुतः। सोप्येवं मोहमापन्नः महिष्या प्रतिबोधितः'' इनके ज्ञान की महत्ता उससे बढकर क्या हो सकती कि जिनके समीप तत्त्वज्ञान के लिये वेदान्त के परमाचार्य महर्षि द्वैपायन श्रीवेदव्यासजी महाराज ने भी अपने आत्माराम आप्तकाम आत्मज श्रीशुकमुनि को प्रेषित किया था । तत्त्वज्ञान जहाँ की मिट्टी में पैदा होता था । यही कारण है कि षड्दर्शनों में चार दर्शनों का जन्म मिथिला में ही हुआ था । गौतम, कणाद, कपिल एवं जैमिनी की जन्मभूमि होने का सौभाग्य इसी भूमि को प्राप्त हुआ । अहर्निश ज्ञान चर्चा होने के कारण ही वहाँ उक्त दर्शनों का प्रादुर्भाव हो सका। बृहदारण्यक जैसा सर्वोच्च आत्मदर्शन के ग्रन्थ का जन्म भी जनक-याज्ञवल्क्य की सभा की ही देन है। यही कारण है कि मिथिला के वैदिक आत्मवाद की जड़ इतनी दृढ हुई, जिसे विश्व का कोई भी वाद (नास्तिक वाद) नहीं हिला सका, जबकि बौद्ध एवं जैन जैसे नास्तिकवाद का जन्म मिथिला के पड़ौस में ही हुआ था-पर

इन दोनों मतों का मिथिला में कोई प्रभाव नहीं पड़ सका । बौद्ध नास्तिकों से वैदिक संस्कृति की रक्षा में मिथिला के दार्शनिकों का सर्वाधिक योगदान रहा है । इन बौद्ध नास्तिकों से जहाँ आदि शंकराचार्य बगल से टक्कर ले रहे थे, वहाँ मिथिला के नैयायिकों ने उनसे सामने से टक्कर लेकर उनके कुतर्कों का मुँह तोड़ उत्तर देकर उन्हें परास्त किया और वैदिक आत्मवाद की रक्षा की । इन मैथिल विद्वानों में उद्योतकार, मण्डन, वाचस्पति, उदयन, गंगेश, पक्षधर आदि विद्वान् प्रसिद्ध हैं । जो उनके द्वारा विरचित ग्रन्थ क्रमशः- न्यायवार्तिक, न्या० वा० तात्पर्य, तात्पर्य परिशुद्धि तथा तत्त्वचिन्तामणि आदि ग्रन्थों के अध्ययन से जाना जा सकता है । वेद को प्रमाण न मानने वालों, तर्क से वैदिक आत्मवाद का खण्डन करने वालों को श्रुति-स्मृति आदि पुराणों द्वारा कैसे परास्त किया जा सकता था परन्तु मिथिला के इन महापुरुषों ने प्रबल तर्कों द्वारा उनको परास्त कर वैदिक आत्मवाद का विश्व में झंडा फहराया । इस प्रकार मिथिला में एक से एक दार्शनिक विद्वान् हुये जिनकी समता नहीं की जा सकती । परन्तु कहना न होगा कि इसी शृङ्खला में बीसवीं सदी के आदि में प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुदेव पं० श्रीभगीरथजी झा मिथिलाञ्चल में ऐसे विद्वान् हुये जिनकी समता नहीं की जा सकती । दिवंगत मीमांसाचार्य मण्डन मिश्र जहाँ मीमांसा एवं दर्शन के ही विद्वान् थे। प्रातः स्मरणीय परम वन्दनीय दार्शनिक सार्वभौम वाचस्पति मिश्र के समक्ष तो विश्व को नतमस्तक होना पड़ता था-जिनसे पढने के लिए देवगुरु बृहस्पति के पुत्र कच आये थे । जिनके न्याय वार्तिक तात्पर्य पर टीका करते समय विश्व के अद्वितीय दार्शनिक आचार्य उदयन ''मातः सरस्वति पुनः पुनरेव नत्वा'' कह कर उनको अपनी लेखनी पर विराजमान होने की प्रार्थना करते हैं । वह तो विश्ववन्द्य है परन्तु उनकी केवल दर्शनों पर ही व्याख्याएँ हैं । विश्व का सर्वोच्च ईश्वरवादी उदयन का ईश्वर विश्वास सर्वोपरि है । फिर भी उनका एकाङ्गी चिन्तन है केवल न्याय दर्शन पर । नव्य न्याय के जन्मदाता गंगेश केवल प्रामाण्यवाद के पण्डित थे । मिथिला के आह्निककार-श्रीरुद्रधर श्रीदत्त एवं वाचस्पति (द्वितीय) केवल कर्मकाण्ड एवं धर्मशास्त्रों के मनीषी थे । सर्वतन्त्र स्वतन्त्र गुरुदेव स्व० पं० बच्चा झा जैसा न्याय का परिष्कारक विश्व में कोई हुआ ही नहीं । परन्तु नित्यलीलालीन मिथिला मही-मण्डन

गुरुदेव पं० श्रीभगीरथजी झा का वैदुष्य एवं आत्मनिष्ठा इन सबसे विलक्षण एवं अद्‌भुत थी । जो उनके द्वारा विरचित एवं प्रकाशित ग्रन्थों के अध्ययन से ही ज्ञात हो सकता है । उनके द्वारा विरचित दर्जनों पुस्तकों में प्रकाशित श्रीभगवत्‌तत्त्व सुधा निधि, श्रीवेदान्ततत्त्व समीक्षा, श्रीयुग्मतत्त्व समीक्षा एवं ''द्वैताद्वैत विवेक'' परम प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं । इन तीनों ग्रन्थ के अध्ययन से कोई विद्वान् जान सकता है कि उनका दार्शनिक ज्ञान, उनका सर्वतोमुखी पाण्डित्य, उनका वेदादि शास्त्रों का अनुशीलन कितना ऊँचा था ।

वे बचपन से श्रीकृष्णानुरागी थे । जन्म-जन्मान्तरीय श्रीराधामाधव युगल रस रसिक थे । वे शैशववय में ही श्रीकृष्णानुराग के आवेग में दो बार छिपकर वृन्दावन आ गये थे-परन्तु श्रीवल्लभाचार्य महाराज की किसी पुस्तक से प्रेरित होकर वैरागी सम्प्रदाय से अनुयोगी बनने का विचार छोड़कर, जनक, याज्ञवल्क्य तथा गौतम द्वारा प्रवर्तित मैथिल सम्प्रदाय के अनुसार विदेहराज जनक की परिपाटी से गृहस्थ जीवन में रहकर ही भक्ति साधना का विचार बना लिया । पढने का कोई शौक नहीं था पढकर धनोपार्जन या पद प्रतिष्ठा प्राप्त करना भी उनका लक्ष्य नहीं था । अध्ययन करने का एकमात्र उद्देश्य था-श्रीराधाकृष्ण के सम्बन्ध में बहिर्मुखजनों द्वारा तथा साम्प्रदायिक पक्षपात से ग्रसित विद्वानों या भक्तों द्वारा अनर्गल प्रचार, असंभावना, विपरीत भावनायें एवं शास्त्र विरुद्ध मतवाद का निराकरण कर शास्त्रीय पद्धति से श्रीराधाकृष्ण युगल का निरूपण तथा वेद, उपनिषद् तथा गीता आदि शास्त्रों के स्वारस्य सिद्ध तात्पर्य का निरूपण, केवल एतावन्मात्र उद्देश्य से ही उन्होंने सभी शास्त्रों का अध्ययन आवश्यक समझा । इसीलिए पहले उन्होंने आवश्यक व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर सर्वप्रथम नव्य न्याय का अध्ययन किया । यह शास्त्र सभी शास्त्रों में नितान्त गम्भीर है तथा समस्त अन्यान्य शास्त्रों की जानकारी हेतु इस शास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। नव्य न्याय एवं शांकर वेदान्त के सारे ग्रन्थ आपने मिथिला एवं काशी में रहकर गुरुमुख से विधिवत् अध्ययन किये थे । इन्हीं दोनों शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन के बल से आपकी सभी शास्त्रों में अव्याहत गति हो गई थी । कृष्ण भक्ति इनकी जन्मान्तरीय देन थी । इसलिये जीवनभर उन्होंने शास्त्रों के गहनाध्ययन में अपने आराध्य युगल श्रीराधामाधव का ही अन्वेषण

किया सारा जीवन उन्होंने प्रियाप्रीतम के अन्वेषण में ही बिता दिया । जो कि उनके द्वारा विरचित उक्त ग्रन्थों के अध्ययन से विदित होता है।

वे जन्मना नैयायिक थे । अद्वैत वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित थे । उक्त दोनों शास्त्रों के समग्र ग्रन्थ उनको कण्ठस्थ थे, परन्तु उनको न तो न्याय का अत्यन्त भेदवाद या आरम्भवाद अच्छा लगा, ना ही शंकर के अत्यन्त अभेद या विवर्तवाद, तथा निर्गुण निराकार वाद, न न्याय का अष्ट गुणों वाला सगुण निराकार वाद । उपनिषदें आपको कण्ठस्थ थीं । भगवद्गीता उनका नित्य स्वाध्याय था । प्रस्थानत्रयी के आप प्रकाण्ड पण्डित थे । इन तीनों ग्रन्थों के आप मौलिक चिन्तक थे । वे टीकाओं एवं भाष्यों का कम सहारा लेते थे । उनके पास मैंने बम्बई से छपी १०८ उपनिषदों की गुटका पुस्तक देखी थी, जो सारा का सारा रंगा था । श्रीमद्भागवत की भी गुटका ही रखते थे । प्रायः भक्त तथा ज्ञानी धर्म शास्त्रों एवं कर्मकाण्डों से कम प्रेम रखते हैं, पर उनका धर्मशास्त्रों का भी बड़ा अध्ययन था । वे कहा करते थे, धर्मशास्त्रों में भी श्रीहरिभक्ति का ही प्रतिपादन है । वे अट्ठारहों पुराणों को एक ग्रन्थ मानते थे। एक-एक पुराण उसका एक-एक अध्याय है । उनका उपक्रम उपसंहार आदि तात्पर्य निर्धारक सामग्रियों द्वारा अध्ययन करने से अठारहों पुराणों में भगवान् व्यास का परम तात्पर्य विष्णुपारक्य में ही है । ऐसा आप मानते थे । वेदों के तात्पर्य निर्धारण के लिए वे इतिहास पुराणों को बहुत महत्व देते थे । ''इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'' । निरुक्त, गृह्यसूत्र आदि सूत्र, कामसूत्र, नाटक शास्त्र तथा रसशास्त्र का भी आपका गहन अध्ययन था । इन सबका अध्ययन भी आपने आराध्य श्रीराधामाधव युगलतत्त्व रहस्य को जानने एवं श्रुति-स्मृति, इतिहास पुराणों द्वारा श्रीयुगलतत्त्व परत्व का निर्धारण करने के लिए किया था । वे कहा करते थे ''आबाल्याच्चिन्तितं यद् वै भावजन्यमनीषया । तदेव प्राप्तं सर्वत्र शास्त्रजन्यमनीषया ।'' यह श्लोक आपने अपनी ''श्रीयुग्मतत्त्व समीक्षा'' के आदि में ही लिखा है । अर्थात् उनका कथन था कि जन्मान्तरीय संस्कारवश शैशव अवस्था से ही भावावेश में जिनका मैंने चिन्तन किया, शास्त्रों के अध्ययन से भी सर्वत्र उनका ही उत्कर्ष पाया, 'वेदश्च सर्वैरहमेव-वेद्यः।' 'वेदे रामायणे चैव भारते पाञ्चरात्रके । आदावन्ते च मध्ये च हरिः

सर्वत्र गीयते ।' ''आलोड्य सर्व शास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः । इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ।'' ये शास्त्रों के प्रामाणिक वचन हैं । प्रातः स्मरणीय गुरुदेव ने इनको जमानी जमा खर्च नहीं रहने दिया । परञ्च अपने प्रसिद्ध तीन ग्रन्थों में इसे प्रत्यक्ष करके दिखा दिया । उक्त समस्त शास्त्रों के प्रामाणिक वचनों द्वारा श्रीराधाकृष्ण परत्व का अभूतपूर्व पद्धति से सिद्ध कर दिया ।

आत्म परमात्मतत्त्व का निरूपण अनेकों ने किया, ब्रह्म विचार बहुतों ने किया । श्रुति प्रामाण्यका समर्थन भी कईयों ने किया, पर वह ब्रह्म, वह परमात्मा, इतना सरस, इतना आह्लादक, इतना प्रेमास्पद तथा भक्त भोग्य है, ऐसा निरूपण मैंने किसी का नहीं देखा । ब्रह्मसूत्र के अधिकांश प्रसिद्ध भाष्य हमने पढे, अन्यान्य दर्शनों का ईश्वर निरूपण भी देखा । सर्व प्रसिद्ध ईश्वर वादी दर्शन न्याय दर्शन ने उस परमात्मा को केवल निमित्त कारण माना, सर्वशक्तिमान् माना, गुणों के नाम पर (केवल आठ गुणों वाला) सगुण निराकार माना आकार नहीं । चेतन कहने के लिए उसे ज्ञानाधिकरण माना रूप नहीं, आनन्द रूप नहीं किसी ने उसे सजातीय विजातीय स्वगत त्रितयभेद विवर्जित शुद्ध बुद्ध निर्विशेष माना, निष्क्रिय माना, निराकार माना, उसे स्तिमितानन्द माना। वह निरतिशय आनन्द सविशेष भी है साकार भी तरङ्गित भी है रसमय भी है, रसिक भी है, भोग्य भी है भोक्ता भी है । अनन्त सौन्दर्य महावारिधि है । ऐसा केवल मैंने अपने पूज्य गुरुदेव की वेदान्त व्याख्या में देखा । उनके गीता के पुरुषोत्तमवाद में देखा । उनके ब्रह्मसूत्र की व्याख्या में देखा ।

''इस शताब्दी (२० वी सदी) में एक दो विभूतियाँ देखीं, एक ऐसा अद्वितीय तपस्वी देखा, अप्रतिम मूर्तिमान् शास्त्र देखा, मूर्तिमान् धर्म देखा, धर्मसम्राट् देखा, जिनकी शास्त्र व्याख्या रसव्याख्या, धर्मव्याख्या, धर्म नीति, राजनीति व्याख्या, सुनकर मैं क्या दुनिया अचम्भित होती थी । जिनका प्रवचन मैं नित्य सुनने जाता था, पर जब मैंने यह जाना कि इन सब का सारा प्रवचन स्वसिद्धान्त से नहीं पर सिद्धान्त से होता है, तो मोह भङ्ग हो गया ।

परम पूज्य श्रीगुरुदेव का रसोत्कर्षवाद, रस सिद्धान्त, श्रीराधाकृष्ण

युगल परत्ववाद पर सिद्धान्त नहीं निज सिद्धान्त था, केवल निज सिद्धान्त नहीं औपनिषद सिद्धान्त था । भावुकता नहीं । श्रीगुरुदेव सच्चे वैष्णव थे, केवल कण्ठीधारी नहीं, सच्चे वेदान्ती थे, 'कलौ वेदान्तिनः सर्वे' नहीं, वे ''अन्तः शाक्ताः बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः, नहीं । हृदय से शास्त्रवाद के समर्थक थे, सच्चे गीतानुयायी थे, कर्म, ज्ञान,भक्ति के पक्षपाती थे, पर पूरे रसिक थे, श्रीराधामाधव युगल आराधक थे । उनके रोम रोम में श्रीराधामाधव युगल अनुराग भरा था । ऐसे थे गुरुदेव इस द्वैताद्वैत के परिष्कारक ।

आपके पूज्य पिताश्री का नाम पं० श्रीबुच्ची झा तथा माता का नाम श्रीमुकुन्दीदेवी था । १९८२ ई. में आप ७६ वर्ष के वय में गोलोकवासी हो गये । आपकी शिक्षा सर्वतन्त्र स्वतान्त्र पं० बच्चा झा के मिथिला स्थित नवानी विद्यालय एवं काशी में हुई । आपका कर्मक्षेत्र गुजरात रहा । वल्लभ सम्प्रदाचार्य गोस्वामीप्रवर श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज को आपने न्याय एवं वेदान्त शास्त्र में पारंगत बनाया । श्रीकृष्ण मन्त्र की दीक्षा आपने श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के वीतराग सन्त, अनेक दार्शनिक ग्रन्थों के रचयिता अनिकेत सन्त पं० श्रीवैष्णवदासजी शास्त्री महाराज से ली थी । आपने निम्नांकित अनेक ग्रन्थों की रचना की । स्वोपार्जित द्रव्य से अपने घर पर श्रीराधाकृष्ण का मन्दिर बनाया । उनकी अपनी कोई सन्तान नहीं थी। अतः उन्होंने पितृव्यपुत्र के सुयोग्य पुत्र श्रीगंगेश झा एम. ए. आचार्य को दत्तक पुत्र बनाकर अपनी समस्त सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाकर श्रीठाकुरजी की सेवा पूजा का भार प्रदान किया-जिनकी सेवा पूजा उनके सुयोग्य पुत्र श्रीगंगेशजी आजकल करते हैं । इनकी अन्य रचनायें--

१. ''श्रीयुग्मतत्त्व समीक्षा''-इसमें पुराणों के आधार पर श्रीराधाकृष्ण युगल-तत्त्व परत्व का विवेचन है ।

२. ''वेदान्ततत्त्व समीक्षा''-इसमें उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों एवं भगवद्गीता के आधार पर श्रीयुगल तत्त्व का विवेचन है--साथ ही चित्, अचित्,

ईश्वर उनका स्वाभाविक भेदाभेद, उभय का सामानाधिकरण्य एक विज्ञान से सर्वविज्ञान वाद, सत्कार्यवाद आदि का वैष्णव सिद्धान्तानुसार प्रौढ विवेचन है ।

३. श्रीभगवत्तत्त्व सुधानिधि- यह तो अथाह ग्रन्थ है-इसमें वेद के मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग, आरण्यक, उपनिषद्, प्रणव, गायत्री, व्याहृति, समस्त धर्मशास्त्रों आदि के आधार पर युगल चिन्तन द्रष्टव्य है ।

४. ''श्रीभागवततत्त्व संदर्भ'' (हिन्दी)-इसमें श्रीमद्भागवत की प्रामाणिकता पर अनेकानेक प्रमाण प्रस्तुत किये गये ।

५. ''श्रीश्याम सुधानिधि''-(मैथिली भाषा में पद्यमय रचना है) विद्यापति पदावली की तरह । इसकी भूमिका में विद्यापति की वैष्णवता एवं श्रीराधाकृष्ण भक्ति का प्रबल समर्थन है ।

उपर्युक्त ग्रन्थों में श्रीराधाकृष्ण सम्बन्धी कोई भी जिज्ञास्य विषय ऐसा नहीं जिसका समाधान न किया गया हो ।

--वैद्यनाथ झा मैथिल

किञ्चिन्निवेदन

पद-वाक्यप्रमाणपारावारीण मिथिला निवासी नित्यलीला प्रविष्ट पण्डित प्रवर श्रीभगीरथजी झा न्यायवेदान्ताचार्य द्वारा प्रणीत ''द्वैताद्वैत विवेक'' नामक ग्रन्थ लघुकाय होने पर भी निम्बार्क दर्शन (द्वैताद्वैत दर्शन) की बेजोड रचना है । द्वैताद्वैत का गहन चिन्तन और सूक्ष्म विवेचन द्वारा विलक्षण परिष्कार ग्रन्थ में यत्र-तत्र विभिन्न दार्शनिकों की समीक्षा के साथ पढने समझने को मिलता है। माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान-अजमेर की विद्या परिषद् ने राज्य में वरिष्ठ उपाध्याय कक्षा के निम्बार्क दर्शन पाठ्यक्रमान्तर्गत द्वितीय प्रश्न पत्र के रूप में ''द्वैताद्वैत विवेक'' ग्रन्थ को समाविष्ट किया है ।

पिछले अनेक वर्षों से इसका अध्ययन-अध्यापन चल रहा है । ग्रन्थ में तीन अंश हैं । प्रथम व द्वितीय अंश का हिन्दी अनुवाद तो स्वयं ग्रन्थकर्ता ने पूर्व में ही किया है । किन्तु तृतीय अंश का अनुवाद नहीं हो पाया था । मुद्रित ग्रन्थ की प्रतियाँ दुर्लभ होती जा रही हैं । अतः जगद्गुरु निम्बार्काचार्य-पीठाधीश्वर श्री ''श्रीजी'' महाराज की अनुज्ञा से अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठ शिक्षा समिति ने इस ग्रन्थ का अवशिष्टांश के हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन कराने का निर्णय लिया । तादनुसार तृतीय अंश के हिन्दी अनुवाद के लिए विद्वद्वरेण्य निम्बार्कभूषण पं० श्रीवैद्यनाथजी झा न्या० व्या० वेदान्ताचार्य (राष्ट्रपति सम्मानित) से प्रार्थना की गयी । पण्डितजी श्रीनिम्बार्क संस्कृत महाविद्यालय वृन्दावन के प्राचार्य पद से सेवा निवृत्त होकर वर्तमान में वृन्दावन में ही निवास करते हैं । आपने कृपा करके उक्त ग्रन्थ के तृतीयांश का अनुवाद, भूमिका एवं ग्रन्थकार का परिचय सहित लिखकर भेज दिया जिससे ग्रन्थ के पुनर्मुद्रण (प्रकाशन) करने में सुविधा हो गई। आपके प्रति भूरि-भूरि कृतज्ञता व्यक्त करते हैं । आपने ''वेदान्तकौस्तुभ प्रभा'' जैसे प्रौढ दार्शनिक ग्रन्थ का भी हिन्दी अनुवाद किया है जो प्रकाशित हो चुका है । सम्प्रति अध्यास परपक्षगिरि वज्र जैसे अति कठिन ग्रन्थ का आप अनुवाद कर रहे हैं, यह प्रसन्नता का विषय है । अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्री राधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज के शुभाशीर्वचनों से ग्रन्थ समलङ्कृत है । परीक्षार्थी छात्रों के उपयोग के लिए ''परिशिष्ट'' भाग में कुछ प्रश्नोत्तर भी मुद्रित कर दिये गये हैं। वे सभी प्रश्नोत्तर संस्कृत में लिखित हैं ।

विदुषां वंशवद-
नेपालवास्तव्य निम्बार्कभूषण पं० वासुदेवशरण उपाध्याय
व्या० सा० वेदान्ताचार्य
प्राचार्य - श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय
निम्बार्कतीर्थ - सलेमाबाद
अजमेर (राजस्थान)

॥ सूचीपत्रम् ॥

विषयः	(३) अंशे	क्रमसंख्या

✻ द्वैताद्वैतविवेकः ✻

अथ प्रथमोऽशः

चिदचिच्छक्तिमद्ब्रह्म द्वैताद्वैतं स्वभावतः ।
नित्याह्लादरसानन्दं श्रीकृष्णं संश्रयेऽन्वहम् ॥१॥
पूर्वाचार्य्यान्नमस्कृत्य द्वैताद्वैतपथानुगान् ।
गुरुपादांस्तथा स्वीयान्नमस्कृत्य पुनः पुनः ॥२॥
मैथिलान्वयजातेन मिथिलाभूमिवासिना ।
भगीरथाख्यविप्रेण द्वैताद्वैतं विविच्यते ॥३॥
यद्यपीदं परं सूक्ष्मं न ज्ञेयम्मादृशैर्नरैः ।
तथापि श्रीहरेःपादौ शरणं मे भविष्यति ॥४॥

(१)

ननु किं तावत्, द्वैताद्वैतत्वं, भेदाभेदपदार्थश्चेति, यदि च--

"द्वाभ्यां चैव प्रकाराभ्यामितं तद्द्वीतमुच्यते ।
द्वीतं तदेव द्वैतं स्यादद्वैतं तु ततोऽन्यथा ॥"

इत्युक्तदिशा द्वाभ्यां प्रकाराभ्यामितं ज्ञातं द्वीतं तदेव स्वार्थिकप्रत्ययात्-द्वैतम्-तद्भिन्नमद्वैतमित्युच्यते-तदा भेदबोधकस्य नञः तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नस्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्यैव भेदस्य बोधकत्वनियमेन, याभ्यामेव प्रकाराभ्यामितत्वेन वस्तुनो द्वैतत्वमभ्युपेयते ताभ्यामेव प्रकाराभ्यामवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदः, अद्वैतपदघटकनञ्पदार्थः स्यात् । तथा च भेदस्य स्वप्रतियोगितावच्छेदकसामानाधिकरण्यविरोधात्, न द्वैताद्वैतपदार्थयोः सामानाधिकरण्यसंभवः-तदर्थं कर्मधारयसमाससंभवश्चेति-तथा च "द्वैताद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः" इति स्वोक्तिविरोधः ।

द्वैताद्वैत पदार्थ क्या है ? भैदाभेद पदार्थ क्या है ? यदि कहें कि द्वैताद्वैत विवरण की कारिका के अनुसार दो प्रकार से जाना हुआ पदार्थ

को द्वीत कहते हैं और द्वीत पदसे स्वार्थ में अण् प्रत्यय होने से द्वीत ही द्वैत है, एवं च-द्वीत अथवा द्वैत शब्द में जो द्वि शब्द है उसका अर्थ है दो प्रकार से और उसके साथ जो ''इण् गतौ'' धातु से निष्पन्न इत शब्द है उसका अर्थ है ज्ञात क्योंकि गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक भी होता है । इसलिये ''द्वैत शब्द का अर्थ हुआ दो प्रकार से जानी हुई वस्तु ।'' और द्वैत शब्द का नञ् समास कर देने से निष्पन्न अद्वैत शब्दार्थ हुआ--द्वैतार्थ से विपरीत एक प्रकार से जानी हुई वस्तु, उन दोनों को कर्मधारय समास कीजिये फलित हुआ कि जो दो प्रकार से भी जाना जा सके और एक प्रकार से भी जाना जा सके--वही द्वैताद्वैत शब्दार्थ है । तब भी नञ् समास में यह नियम है कि जिस शब्द के साथ नञ् शब्द समस्त हो उस पदार्थ से गम्यमान जो अर्थ होता है उस अर्थ से विपरीत ही उस पदार्थ का भेद बोधन करे। जैसे असुन्दर यहाँ पर नञ् शब्द सुन्दर के साथ समस्त हुआ है तो नञ् सुन्दरत्व-विशिष्टका ही भेद बोधन करेगा । इस परिस्थिति में सुन्दर भेदरूप असुन्दरत्व वहीं रहेगा, जहाँ सुन्दरत्व न हो ऐसी स्थिति में असुन्दर पद को सुन्दर पद के साथ कर्मधारयसमास भी नहीं हो सकता जैसा सुन्दरासुन्दरः यह कर्मधारय समास नहीं हो सकता है । उसी प्रकार द्वैत पद को जब नञ् के साथ समास करेंगे तब अद्वैत पद का अर्थ ठीक द्वैत पदार्थ से विपरीत होगा । अर्थात् द्वैत पदार्थ यदि दो प्रकार से जानी हुई वस्तु है तो अद्वैत पदार्थ होगा जो दो प्रकार से नहीं जानी जा सके वैसी वस्तु । इस हालत में एक ही वस्तु दो प्रकार से भी जानी जाय और दो प्रकार से नहीं भी जानी जाय, यह परस्पर विरुद्धस्वरूप कैसे हो सकता है। इस प्रकार परस्पर विरुद्धार्थ बोधक पदद्वय द्वैत और अद्वैत इन दोनों का कर्मधारय समास भी किस प्रकार हो सकता है । तब स्वकीय कर्मधारय सिद्धान्त का व्याघात होता है ? ॥१॥

(२)

भेदाभेदपदार्थेप्येवमेव सामानाधिकरण्यव्याघातः । तत्राप्य भेदो यदि भेदसामान्याभावः, भेदश्च लोकप्रसिद्धः-तादात्म्य-

सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलक्षणः तदा सामानाधि-करण्यव्याघात एव । अत्यन्ताभावस्य व्याप्यवृत्तिस्वप्रतियोगिना सह सामानाधिकरण्यविरोधनियमात् । यदि च भेदसहिष्ण्वभेद-लक्षणं तादात्म्यमेव प्रकृतेऽभेदपदार्थस्तर्हि, अभेदपदेनैव भेदाभेद-लाभे भेदपदं व्यर्थं, तत्राप्यभेदः किमिति जिज्ञासापरम्परयाऽन-वस्थापत्तिश्च स्यात् इतिचेत् ।

भेदाभेद में भी इसी प्रकार सामानाधिकरण्यव्याघात है । वहाँ पर भी अभेद यदि भेदसामान्याभाव है और भेद लोकप्रसिद्ध तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकअभावरूप है । तब घट और घटाभाव का जैसा सामानाधिकरण्यविरोध स्पष्ट है, क्योंकि अत्यन्ताभाव को अपने प्रतियोगी के साथ विरोध होता है । यदि अभेद पदार्थ तादात्म्य ही हैं और तादात्म्य पदार्थ है भेद सहिष्णु अभेद तब अभेद पद से ही भेदाभेद दोनों का लाभ हो ही जाएगा, भेदाभेद घटक भेदांश व्यर्थ हो जाता है ॥२॥

(३)

अत्रोच्यते--द्वाभ्यां परस्परविलक्षणाभ्यां प्रकाराभ्यां = स्वतन्त्रसत्त्वपरतन्त्रसत्त्वाभ्यां चेतनाचेतनत्वादिभ्यां चेतं ज्ञातं वस्तु द्वीतमित्युच्यते, तदेव द्वैतम्, स्वार्थिकप्रत्ययात् । वस्तुतस्तु प्रकृते द्वैत पदमनेकस्य पर्य्यायः । तथा च द्वाभ्यां प्रकाराभ्यामित्यस्यानेकैः प्रकारैः चिदचिदीश्वरभेदैः तदवान्तरभेदैः जीवप्राकृताप्राकृतकाले-श्वररूपैः तदवान्तरभेदैश्च इतं ज्ञातं वस्तु द्वीतं तदेव द्वैतमितितात्पर्य्यार्थः ।

उत्तर--परस्पर विलक्षण दो प्रकार=स्वतन्त्र सत्त्व, परतन्त्र सत्त्व, चेतनत्व-अचेतनत्व, इत्यादि से इत=ज्ञात हो उसको द्वीत कहते हैं । वस्तुतः द्वैताद्वैत घटक द्वैत शब्द-अनेकत्व, नाना इत्यादि पद के समा-नार्थक है । तब दो प्रकार=अनेक प्रकार चिदचित् ईश्वर, उसके अवान्तर जीव प्राकृत अप्राकृत काल ईश्वर उसके अवान्तर मुक्त, बद्ध, सत्त्वर-जस्तम, धामभूषण शयनासनादि विविध भेद से इत ज्ञात वस्तु को द्वीत

उसी को स्वार्थिक प्रत्ययबल से द्वैत कहते हैं यही द्वैत पद का तात्पर्य्यार्थ है ॥३॥

(४)

अद्वैतं तु तद्विलक्षणम् । एकेनैव ब्रह्मात्मकत्वलक्षणेन प्रकारेण ज्ञातं वस्तु, ब्रह्मात्मकत्वं च चिदचितोः, ब्रह्मशक्तित्वेन ब्रह्माधीनसत्ताकत्वेन, सर्वतोभावेन स्फटिकादौ शौक्ल्यादिवद्-ब्रह्मव्याप्यत्वादिना च बोध्यम् । एवं च यथा अज्ञानम् इत्यत्र न ज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वमर्थः तथा सति ज्ञानत्ववति विपरीतज्ञानेऽज्ञानपद प्रयोगानुपपत्तेः, ज्ञानभिन्ने घटादौ तत्प्रयोगापत्तेश्च नापि ज्ञानस्याभाव इत्यव्ययीभावः, अव्ययत्वापत्तौ, अज्ञानानि इत्यादिप्रयोगवाधापत्तेः, अपितु प्रमाविपरीतज्ञानमेवाज्ञानम् तथा अद्वैतमित्यत्रापि न द्वैतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वमर्थः येन स्वप्रतियोगितावच्छेदकद्वैतत्ववति कथं द्वैतत्वावच्छिन्नप्रति-योगिताकभेदः स्यादिति पूर्वोक्तशङ्कावसरः। अपितु अनेकप्रकारेण ज्ञातत्वलक्षणद्वैतपदार्थविपरीतैकब्रह्मात्मकत्व प्रकारेण ज्ञातत्वमे-वाद्वैतपदार्थः तथा च कटककुण्डलादौ कटकत्वकुण्डलत्वाद्यनेक-प्रकारेण ज्ञातत्वस्य स्वर्णात्मकत्वादिनैकप्रकारेण ज्ञातत्वस्य च सामानाधिकरण्यदर्शनान्न द्वैतात्वाद्वैतत्वयोः एकत्र सामानाधि-करण्यव्याघातशङ्कावसरः ॥ तदेवं भूतयोः द्वैताद्वैतपदार्थयोः सामानाधिकरण्यं प्रमितं यत्र वस्तुनि सिद्धान्ते च तद्वस्तु सिद्धान्तश्च द्वैताद्वैतपर्य्यायौ बोद्धयौ इति ।

द्वैत पदार्थ का विपरीत अद्वैत पदार्थ जानना । एक ब्रह्मात्मकत्व प्रकार से ज्ञात वस्तु को अद्वैत कहते हैं । चित् अचित् को ब्रह्मात्मकत्व= ब्रह्मशक्ति होने से, ब्रह्माधीनसत्तायुक्त होने से, शौक्ल्य से स्फटिक जैसा ब्रह्मव्याप्य होने से, होता है । अब यहाँ पर जानना चाहिए कि जैसा अज्ञान यहां पर नञ् समास होने पर भी अज्ञान पद का ज्ञानत्ववत्सामान्य से भिन्न यह अर्थ नहीं होता, क्योंकि तब भ्रमज्ञान में भी अज्ञान पद का

प्रयोग नहीं होगा वहाँ भी ज्ञानत्व विद्यमान है । अपि च घट भी अज्ञान पदार्थ हो जाएगा=वह भी ज्ञान सामान्य से भिन्न है । अव्ययीभावसमास के द्वारा ज्ञानाभाव भी अज्ञानपदार्थ नहीं हो सकता । अव्ययीभावसमास होने से अज्ञान पद को अव्यय हो जाने पर "अज्ञानानि" यह बहुवचनान्त प्रयोग नहीं हो सकेगा । किन्तु अज्ञान पद का विपरीत ज्ञान अर्थ है । इसलिये भ्रम में ज्ञानत्व रहते हुए भी वहाँ पर अज्ञान पद का प्रयोग होता है । ठीक उसी प्रकार अद्वैत पद का भी द्वैतत्वविशिष्टसामान्य का भेद अर्थ नहीं है । जिससे कि-प्रतियोगितावच्छेदकत्व द्वैतत्व हो जाने से द्वैतत्त्व अद्वैतत्त्व का एकत्र न रहने की शंका का अवसर रहे । अपितु अनेक प्रकारेण ज्ञातत्वलक्षण जो द्वैत पदार्थ है उससे विलक्षण ब्रह्मात्मकत्वरूप एक प्रकार से ज्ञातत्व ही अद्वैतत्व है । एवंच एक ही सुवर्णमय-कटक-कुण्डलादि पदार्थ में कटकत्वकुण्डलत्वादिरूप अनेक प्रकार से ज्ञातत्व के साथ सुवर्णात्मकत्व रूप एक प्रकार से ज्ञातत्व भी है किञ्चित् भी विरोधाभास नहीं होता, उसी प्रकार एक ही वस्तु में चिदचित्त्वादिलक्षण अनेक प्रकार से ज्ञातत्व के साथ ब्रह्मात्मकत्वरूप एक प्रकार से ज्ञातत्व भी रहता है । विरोध का किंचित् भी अवसर नहीं है । सामानाधिकरण्य हो जाने से कर्मधारयसमास भी उपपन्न हुआ । एतादृश द्वैत और अद्वैत पदार्थद्वय का सामानधिकरण्य जिस पदार्थ में अथवा सिद्धान्त में संगत हो उस पदार्थ का तथा सिद्धान्त का ही पर्य्याय है द्वैताद्वैत ॥४॥

(५)

एवं भेदाभेदपदार्थेऽपि भेदो न लोकसिद्धस्तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलक्षणः । सकलवस्तूनां ब्रह्मात्मकत्वेन ब्रह्मतादात्म्यस्य सर्वत्र सिद्धान्तिभिरङ्गीकारेण तादात्म्यघटिताभावस्य तेष्वसंभवात् । किन्तु-ब्रह्मात्मकत्वपरि-पन्थित्वाभावविशिष्टः तत्तद्वस्तुगततत्तद्वैलक्षण्यप्रतीतेः विलक्षण-कार्य्यकारितायाश्च निर्वाहकः, भावरूपोऽभावरूपो वा धर्मविशेष एव । तस्य ब्रह्मात्मकत्वपरिपन्थित्वाभावेऽपि मुख्यभेद इव वैल-

क्षण्यप्रत्ययनिर्वाहकत्वात्, भेदपदव्यवहार्य्यतेति । अभेदपदार्थश्च वैलक्षण्यपरिपन्थित्वांशत्यागेन तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रति-योगिताकाभावलक्षणस्य भेदस्यात्यन्ताभाव एव । लौकिकाभेदस्य वैलक्षण्यानुभवपरिपन्थित्वात् तदंशस्य भेदाभेदघटकाभेदपदार्थे-ऽनभिमतत्वात्तत्त्यागो विशेषितः । अत्रापि तादात्म्यानुबन्धित्वादि-लक्षणमुख्याभेदसाधर्म्यादेवाभेदव्यवहारः । ब्रह्मात्मकत्वमात्रं वाऽभेदःतस्य च न वैलक्षण्यपरिपन्थित्वम्, कटककुण्डत्वादीनां तत्तद्वैलक्षण्यवत्वेऽपि सुवर्णात्मकत्वस्य विद्यमानत्वात् । तथा च लौकिकतार्किकभेदाभेदयोरिवास्मदीयभेदाभेदयोः सामानाधि-करण्यविरोधाभावात्र किमप्यसमञ्जसम् ।"

इसी प्रकार भेदाभेद पदार्थ में भी भेद=लोकप्रसिद्ध-तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता का अभावरूप नहीं ग्राह्य है । क्योंकि सिद्धान्त में सकल वस्तु को ब्रह्मात्मकत्व होने से तादात्म्यघटित ब्रह्मभेद का कहीं भी संभव नहीं हो सकता है । इसलिये ब्रह्मात्मकत्व का अविरोधी, तत्तद्वस्तुगतवैलक्षण्यप्रतीति,-तथाविलक्षणकार्य्यकारित्वका निर्वाहक,-भावरूप अथवा अभावरूप धर्म ही भेद पदार्थ है । उसको ब्रह्मात्मकत्व-लक्षणतादात्म्यपरिपन्थित्व नहीं होने पर भी तादात्म्यघटितभेदवदेव वैल-क्षण्यप्रतीतिनिर्वाहकत्वात् भेदपदव्यवहार्य्यता है । इसी प्रकार-अभेदपदार्थ, तादात्म्यघटित लोकप्रसिद्धभेद का अभाव रूप होने पर भी वैलक्षण्यप्रतीतिविरोधित्वांश त्याग करके ही भेदाभेदघटक अभेद पदार्थ है । अथवा ब्रह्मात्मकत्वरूप तादात्म्य ही यहाँ पर अभेद पदार्थ है । इसको भी केवल तादात्म्यानुबन्धित्वरूप प्रसिद्धभेदसाधर्म्यमात्र से अभेद-पदव्यवहार्य्यता है । ब्रह्मात्मकत्वलक्षण तादात्म्य को अभेद मानने पर भी तत्तद्वैलक्षण्यप्रतीतिका निर्वाह होता है । जैसा कि--कटककुण्डलादिको सुवर्णात्मकत्व रहने पर भी कटककुण्डलादिकृतवैलक्षण्य निर्वाहित होता है । यथा वा प्रकाशका सूर्यात्मकत्व होने पर सूर्य्य प्रकाश उभयकृत वैलक्षण्य निर्वाहित होता है । इस प्रकार लौकिक तार्किक भेदाभेद की

तरह हमारे भेदाभेद पदार्थ में सामानाधिकरण्य विरोध का अभाव है । अतः कुछ भी असमञ्जस (असंगत) नहीं है ।।५ ॥

(६)

एतादृशभेदाभेदयोः सद्भावं श्रुतिरप्याह-तदुक्तं सूत्रकृता 'उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ३।२।२७। प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्' ३।२।२८। तथा च प्रथमसूत्रे कौस्तुभभाष्यम्-मूर्तामूर्तादिसर्वकार्य्यजातस्य ब्रह्मभिन्नत्वेऽपि तदभिन्नत्वम्, कुतः? उभयव्यपदेशात्, भेदाभेदव्यपदेशात् ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' यः पृथिव्यां तिष्ठन्'' इत्यादि भेदव्यपदेशात् । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्याद्यभेदव्यपदेशाच्च तत्र दृष्टान्तमाह अहिकुण्डलवदिति । सर्वत्र विवक्षितांशमात्रेण दृष्टान्ता उपादीयन्ते । कुण्डलोपादानभूतो रज्वाकारः अहिः कारणम्, तत्स्थानीयं सर्वशक्त्युपेतं जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणं ब्रह्म ! बलयाकारं कार्य्यभूतं कुण्डलम् । तत्स्थानीयं कार्य्यभूतं मूर्त्तामूर्तादिकं विश्वम् । तत्र कुण्डलं परतन्त्रं व्याप्यं कार्य्यं च । अहिः तदपेक्षया स्वतन्त्रो व्यापकः कारणं च अतस्तयोर्भेदः । अहिव्यतिरेकेण कुण्डलस्य स्थितिप्रवृत्यभावात्ततोऽभेदश्च । एवं प्रपंचस्यापि चिदचिच्छक्तिमद्ब्रह्मकार्य्यस्य कारणेन ब्रह्मणा सह स्वाभाविकौ भेदाभेदौ भवतः । तत्र सूत्रानुरूपः श्रुतिपूगः- ''द्वा 'सुपर्णा सयुजा'' पृथगात्मानं' प्रेरितारं च मत्वा ''सर्वं 'खल्विदं ब्रह्म'' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं ''ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्व'' मित्यादिः । ब्रह्मात्मकत्वान्मूर्त्तामूर्तादिकस्य प्रतिषेध्यत्वं नेतिभावः।

मूर्तामूर्तादि कार्यस्थानीय जगत् कारणब्रह्म से भिन्न होते हुए भी अभिन्न है। क्योंकि ब्रह्म के साथ जगत् के भेद और अभेद दोनों संबंधों का उपदेश श्रुति ने किया है । ''जिससे यह समग्र भूतग्राम उत्पन्न हुआ है'' ''जो पृथिवी में वर्तमान रह कर'' इत्यादि श्रुतियों ने ब्रह्म के साथ जगत् को भेद दिखाया है । ''यह सारा संसार ब्रह्म है'' आदि श्रुतियों ने ब्रह्म के साथ जगत् का अभेद भी बताया है । इस विषय में दृष्टान्त देते

सूत्रकार कहते हैं। ''अहिकुण्डलवत्'' (दृष्टान्त विवक्षितांशमात्रसे लिया जाता है सर्वांश से नहीं) सर्पका लम्बमान रज्जुका आकार ही उसके कुण्डलाकारका उपादान कारण है । वह लम्बमान सर्पस्थानीय सर्वशक्तिमान् ब्रह्म जगत् से अभिन्न एवं निमित्त तथाउपादान कारण है । कार्य्यभूत सर्पका बलयाकार कुण्डलरूप स्थानीय कार्य्यभूत मूर्त अमूर्त स्थूलसूक्ष्म विश्व है । इनमें कुण्डलाकार अस्वतन्त्र व्याप्य और कार्य्य है। सर्प उससे स्वतन्त्र व्यापक और कारण है । अतः इन दोनों में भेद सम्बन्ध है । परन्तु सर्प के बिना कुण्डलाकारकी, पृथक्रूप से स्थिति नहीं है । अतः इन दोनों में अभेद सम्बन्ध भी है । इसी प्रकार से चिदचित् शक्तिमय ब्रह्म कार्य्य जगत् का कारणरूप ब्रह्म के साथ स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध है । इस सूत्र के अनुरूप श्रुतियाँ भी वर्तमान है । यथा-''दो [1]पक्षीयुक्त भाव से'' ''आत्मा[2] और परिचालक ब्रह्म को भिन्न समझकर'' ''यह[3] सभी ब्रह्म है'' ''यह[4] सभी ब्रह्मात्मक है'' ब्रह्म[5] ही यह सब, आत्मा[6] ही यह सब इत्यादि । मूर्तामूर्त सभी के ब्रह्मात्मक होने के कारण इनका निषेध नहीं=यह मिथ्या नहीं है ॥६॥

(७)

अत्रेदं चिन्तनीयम् । भेदपदेनात्र तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावरूपो भेदो भाष्यकृतामभिप्रेतो नवेति, नेति ब्रूमः सर्पात्मके सर्पकुण्डले तादात्म्यघटितसर्पभेदासंभवात् तादात्म्य-घटित सर्पभेदसत्त्वे तत्र सर्पतादात्म्यासंभवात् । न च मास्तु सर्पत्वेन तादात्म्यघटितसर्पभेदः, ऋजुत्वेन तादात्म्यघटितभेदः कुण्डलसर्पे स्यादितिवाच्यम् । ऋजुत्वस्य कुण्डलावस्थायामपि कुण्डलत्वस्य ऋज्ववस्थायामपि च सूक्ष्मतया सत्वात्, कथमन्यथा स्वस्वावस्था-यां प्रादुर्भवेत् । तदुक्तं तत्रैव काश्मीरिभट्टपादैः--''अन्यथा तस्य तत्राभावे पुनराविर्भावो न भवेत् इति'' इति । तस्मात् तदात्मकत्वा-परिपन्थी तादात्म्यसम्बन्धाघटितः ऋजुसर्पकुण्डलादिवैलक्षण्य-प्रत्ययनिर्वाहकः वैशेषिकमतसिद्धभेदविलक्षण एव भेदः सर्प-

कुण्डलादौजगद्ब्रह्मादौ च भाष्यकृतामभिप्रेतः इति न मदुक्तपूर्व-ग्रन्थबाधः, इति ।

यहाँ पर यह विचारणीय है कि--उक्त भाष्य में भेदपद तादात्म्य घटित भेद परक है या अन्य विध ? विचार करने पर प्रतीत होता है कि न्याय मतसिद्ध तादात्म्यघटित भेद भाष्यकार का अभिप्रेत नहीं है । क्योंकि सर्पात्मक सर्पकुण्डल में तादात्म्यघटित सर्पभेद का रहना असंभव है । कहें कि सर्पत्वेन सर्प का तादात्म्यघटित भेद सर्पकुण्डल में न भी रहे किन्तु ऋजुत्वेन सर्प का तादात्म्यघटितभेद कुण्डलसर्प में रहेगा ? नहीं ऋजुत्वधर्म कुण्डलावस्था में कुण्डलत्वधर्म ऋजुअवस्था में सूक्ष्म रूप से सर्प में ही रहता है । अन्यथा कुण्डल से पुनः ऋजु होने पर ऋजुत्व, ऋजुसे कुण्डल होने पर कुण्डलत्व, सर्प में कहां से आएगा ? इसी अभिप्राय से काश्मीरिभट्टपाद ने इसी अधिकरण में कहा है--''यदि कुण्डलावस्था में ऋजुत्व ऋज्ववस्था में कुण्डलत्व सर्प में न हो तो फिर अवस्था का परिवर्तन न हो सकेगा । इसलिये दोनों अवस्था में दोनों स्थूलसूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता ही है । इसलिये तत्तदात्मकत्व अविरोधी अत एव तादात्म्यसम्बन्ध से अघटित ऋजुसर्प कुण्डलसर्प इत्यादि वैलक्षण्यप्रतीतिनिर्वाहक नैयायिकोक्तभेदविलक्षण ही भेद सर्पकुण्डलादि जगत्ब्रह्मादि में भाष्यकार का अभिमत है । इसलिये मैंने जो पहले भेदाभेदघटकतया भेद का निरूपण किया है वह भाष्यकार सम्मत ही है ॥७॥

(८)

एतादृशभेदस्य न भेदनिषेधकश्रुत्या बाधसंभवः, नवा भेदाभेदयोः समानाधिकरण्यविरोधः । भेदनिषेधकश्रुतेः वस्तुमात्र-स्य ब्रह्मात्मकत्वसिद्धिप्रयोजनमात्रसाकाङ्क्षत्वेन ब्रह्मात्मक-त्वपरिपन्थितादात्म्यघटितवैशेषिकादिसम्मतभेदमात्रनिषेधेनाकाङ्-क्षाविरहात् ॥ तदुक्तम् परपक्षगिरिवज्रे-पराभिमतप्रयोजननिरसन-प्रसङ्गे (पृ० ३७) ''न च निषेधवाक्यस्यैतद्बाधकत्वादितिवाच्यम् ।

तस्य स्वतन्त्रसत्त्वावच्छिन्नभेदनिषेधपरत्वेन वस्तुस्वरूपनिषेधपरत्वाभावात्, नाप्यभेदवाक्यानांतद्बाधकत्वम् तेषां ब्रह्मतादात्म्यसंम्बन्धविधायकत्त्वेन नैराकाङ्क्ष्यात् । नाप्यनयोरितरेतरविरोधित्वेन सामानाधिकरण्यासंभवः शङ्कनीयो भिन्नविषयकत्वात्, तथाहि भेदवाक्यानां पदार्थस्वरूपादि विधानपरत्वेन नैराकाङ्क्ष्यम् । स एव तेषां विषयः । अभेदवाक्यानां तु ब्रह्मतादात्म्यसम्बन्धविधायकत्वेन कृतार्थत्वं, तादात्म्यसम्बन्ध एव तेषां विषयः । एवं च नेतरबाध्यबाधकभावस्तस्मान्नोक्तदोषावकाशः '' । इति ।

एतादृश भेदा का भेदनिषेधक श्रुति से बाध का भी संभव नहीं है। अभेद के साथ सामानाधिकरण्यविरोध भी नहीं होता है । क्योंकि निषेधक श्रुति को वस्तुमात्र को ब्रह्मात्मकत्वसाधनमात्र से प्रयोजन है सो ब्रह्मात्मकत्व विरोधी नैयायिकमतसिद्ध तादात्म्यघटितभेद का निषेध मात्र से निष्पन्न हो जाता है । (अतएव भेदनिषेधकश्रुति ब्रह्मात्मकत्व-विरोधी नैयायिकमत सिद्ध तादात्म्यघटित भेद का निषेधमात्र से निष्पन्न होजाता है ।) अतएव भेदनिषेधक श्रुति ब्रह्मात्मकत्वाविरोधी मदुक्तभेदनिषेध में निराकाङ्क्ष हो जाता है । यही विषय, परपक्षगिरिवज्र के प्रयोजन-परिच्छेद (पृ० ३७) में कहा गया है । कहें कि भेदनिषेधवाक्य भेद का बाधन करेगा ? उसको स्वतंत्रसत्त्वावच्छिन्न (तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न) जो भेद तन्मात्रनिषेधपरता होने से सामान्यतः भेदस्वरूप निषेध में आकाङ्क्षा नहीं है । अभेदवाक्य में भी भेदबाधकत्व नहीं है । क्योंकि वह वस्तुमात्र को ब्रह्मतादात्म्यविधानमात्र से निराकाङ्क्ष हो जाता है । एतादृशभेद अभेद को परस्परविरोधप्रयुक्त, सामानाधिकरण्यका असंभव की भी शंका नहीं कर सकते हैं, कारण कि प्रकृतभेदाभेदघटकभेद और अभेद का विषय भिन्न भिन्न होने से विरोध का कारण ही नहीं है । क्योंकि भेदवाक्य विलक्षणविलक्षणपदार्थस्वरूपबोधनमात्र से निराकाङ्क्ष होजाता है । वही उसका विषय है । अभेदवाक्य को पदार्थों में ब्रह्मतादात्म्यमात्र-बोधन से कृतकृत्यता है, ब्रह्मतादात्म्यबोधन ही अभेदवाक्य का विषय

है। इसलिये भेद अभेद का परस्पर बाध्यबाधकभाव भी नहीं है, इसलिये पूर्वोक्त दोष नहीं है ॥८॥

(९)

अत्र स्वतन्त्रसत्तावच्छिन्नेत्यादिग्रन्थस्य स्वतन्त्रसत्तावच्छिन्ना भेदनिष्ठ या प्रतियोगिता तन्निरूपकोऽभावो भेदनिषेधविषय इत्यर्थोबोध्यः । न तु स्वतन्त्रसत्तावच्छिन्नस्य प्रतियोगिनो यो भेदस्तस्य निषेध इत्यर्थः । स्वमते स्वतन्त्रसत्त्वस्य ब्रह्ममात्रनिष्ठत्वेन स्वतन्त्रसत्तावच्छिन्नब्रह्मप्रतियोगिकभेदस्य परतन्त्रसत्ताश्रये चिदचित्प्रपञ्चे नित्यं सत्त्वेन तादृशभेदनिषेधस्य स्वमते स्वीकर्त्तुमशक्यत्वात् । न च स्वतन्त्रसत्तावच्छिन्नप्रपञ्चनिष्ठप्रतियोगिताकभेदो निषेधश्रुतिगोचरः इत्यर्थ इतिवाच्यम्, ब्रह्ममात्रस्वतन्त्रसत्तावादिस्वमते स्वतन्त्रसत्ताश्रयप्रपञ्चप्रसिद्ध्या तादृशभेदस्याप्रसिद्धप्रतियोगिकत्वेनाप्रसिद्धतया निषेधायोगात्, तस्मात् पूर्वोक्त एवार्थः साधुः। अथवा स्वतन्त्रसत्तावच्छिन्नभेदपदेन साङ्ख्यादिमताद्ध्यासितस्वतन्त्रसत्ताश्रयस्य प्रपञ्चस्यैव भेदः निषेध्यतया गृह्यते तादृशभेदनिषेधस्य प्रपञ्चे स्वतन्त्रसत्तानिषेधे पर्य्यवसानेन प्रपञ्चस्य ब्रह्माधीनसत्ताकत्वरूपब्रह्मात्कत्वबोधने फलतः पर्य्यवसानात् । तत्र प्रथमपक्षे भेदनिष्ठं स्वतन्त्रसत्त्वं न अन्यसत्तानधीनसत्तारूपम्, भेदसत्ताया नियमतः प्रतियोगिसत्तासापेक्षतया तादृशस्वतन्त्र सत्ताया भेदेऽसत्वेन तादृशसत्ताश्रय भेदस्याप्रसक्ततया प्रसज्यप्रतिषेधासंभवात् । तस्मात् निषेद्ध्यभेदे स्वतन्त्रसत्त्वम् ब्रह्मतादात्म्यरूपाभेदसामानाधिकरण्यसहिष्णुत्वाभावरूपं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमेव । एवं च वेदान्तसिद्धान्तसिद्धब्रह्मात्मकत्वपरिपन्थितादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमेव फलतः भेदे प्रतिषिद्ध्यते नतु स्वरूपतो भेदः। द्वितीयपक्षेऽपि सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वबोधनाय प्रवृत्तायाः श्रुतेः साङ्ख्याद्यध्यासितस्वतन्त्रसत्ताश्रयप्रपञ्चभेदनिषेधेन भेदे, जगतिब्रह्मात्मकत्त्वपरि-

पन्थित्वांशप्रतिषेधे एव तात्पर्यं प्रतीयते, तस्मात् स्वतन्त्रसत्त्वे भेदे च यत् ब्रह्मतादात्म्यपरिपन्थित्वं तदेव प्रतिषिध्यते नतु स्वरूपतो भेदः इति न पूर्वोक्ताद्विशेषः ।

यहां पर स्वतन्त्रसत्तावच्छिन्नभेदनिष्ठ जो प्रतियोगिता तत्प्रतियोगितानिरूपक अभाव भेद का निषेधपदार्थ समझना चाहिये । न कि स्वतन्त्रसत्तावच्छिन्नप्रतियोगी का जो भेद उसका निषेध यह अर्थ समझना। क्योंकि स्वमत में स्वतन्त्रसत्ता को ब्रह्ममात्रवृत्ति होने से स्वतन्त्रसत्त्वविशिष्ट ब्रह्म भेद का परतन्त्रसत्ताश्रयचिदचिदात्मकप्रपञ्च में सदैव रहने से प्रपञ्च में स्वतन्त्रसत्ताश्रयब्रह्म भेद का निषेध स्वमतसम्मत नहीं हो सकता है। न च कहें कि स्वतन्त्रसत्त्वविशिष्ट प्रपञ्च का भेद ही श्रुतिनिषेधविषय है । सो भी नहीं ब्रह्ममात्र को स्वतन्त्रसत्तावादी स्वमत में स्वतन्त्रसत्ताश्रय प्रपञ्च की अप्रसिद्धि होने से तादृशभेद का भी अप्रसिद्ध हो जाने से निषेध भी संगत नहीं होगा, (अप्रसद्धि वस्तु का निषेध भी नहीं होता है) इसलिये पूर्वोक्त ही अर्थ ठीक है । अथवा स्वतन्त्रसत्तावच्छिन्नभेदपद से साङ्ख्यादिशास्त्रद्वारा अध्यासित स्वतन्त्रसत्ताश्रयप्रपंच का ही भेद, भेदनिषेधश्रुति का विषय है । तादृश भेदनिषेध का प्रपञ्च में साङ्ख्यादि से अध्यासित स्वतन्त्रसत्ता का निषेध में पर्य्यसान होने से फलतः प्रपञ्च को ब्रह्माधीनसत्ताकत्वलक्षणब्रह्मात्मकत्वबोधन में पर्य्यवसान होने से महान् लाभ होता है । इन दोनों पक्ष के प्रथमपक्ष में भेदनिष्ठस्वतन्त्रसत्ता से-अपरतन्त्र सत्ता नहीं लेना, क्योंकि भेदसत्ता नियमतः प्रतियोगिसत्ता के अधीन होता है । इसलिये भेद में स्वतन्त्रसत्ता का अभाव होने से तादृश-स्वतन्त्रसत्ताविशिष्टभेद की अप्रसक्ति होने से भेद का प्रसज्य प्रतिषेध नहीं हो सकता । इसलिये निषेध्यभेदमेंस्वतन्त्रसत्त्व=ब्रह्मतादात्म्यरूप अभेद का सामानाधिकरण्य-असहिष्णुरूप भेदनिष्ठतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नत्व ही है । इसलिये वेदान्तसिद्धान्तसिद्धब्रह्मात्मकत्व का परिपन्थी तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्नत्व ही फलतः भेद में निषेधविषय है स्वरूपतः भेद नहीं। द्वितीयपक्ष में भी सब पदार्थ को ब्रह्मात्मकत्वबोधनार्थप्रवृत्तश्रुतिका तात्पर्य्य

साङ्ख्यादि से अध्यासित स्वतन्त्रसत्ताश्रयप्रपञ्चभेद का निषेध से भेद में जगत् निष्ठब्रह्मात्मकत्वविरोधित्वांश का प्रतिषेध में ही प्रतीत होता है । तस्मात् प्रपञ्चनिष्ठ अध्यासितस्वतन्त्रसत्त्व में तथा भेद में जो ब्रह्मतादात्म्य-विरोधित्वांश है उसी का निषेध भेदनिषेधकश्रुति का विषय है न कि स्वरूपतः भेद, इसलिये पूर्वकथित अर्थ से अविशिष्ट ही अर्थ यहां पर भी कथित हुआ ।।९।।

(१०)

'नाप्यभेदवाक्यानामित्यस्य=अभेदवाक्यं-पूर्वोक्तभेदे ब्रह्मात्मकत्वरूपब्रह्मतादात्म्यपरिपन्थित्वलक्षणस्य तादात्म्यसम्ब-न्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्त्वांशस्य प्रतिषेधेन ब्रह्मतादात्म्यं विधत्ते इत्यर्थः । तेन ब्रह्मतादात्म्यं-यदि ब्रह्मात्मकत्वं, तर्हि कथमभेदशब्देन विधातुं शक्यं तत्रार्थेऽभेदशब्दस्य शक्त्यभावात् । भेदाभावार्थे व्युत्पन्नोऽभेदशब्दः कथं वा नांशतोऽपि भेदविरुद्धार्थबोधक इत्याकाङ्क्षानिरस्ता, भेदे तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता-कत्वांशप्रतिबन्धेन भेदविरुद्धार्थगमकत्वात्तद्द्वारैव ब्रह्मतादात्म्य-विधायकत्वाच्च । न च तादात्म्यं भेदसहिष्णुरभेद इति वाच्यम्-तथा सति अभेदपदेनैव भेदाभेदलाभात् भेदपदवैयर्थ्यापत्तेः, तत्राप्यभेदः किमिति जिज्ञासापरम्परयाऽनवस्थापत्तेश्चेत्युक्तम् ।

'नाप्यभेदवाक्यानाम्' इत्यादि परपक्षगिरिवज्र का जो अंश है उसका यह अर्थ है=अभेदबोधकश्रुतिवाक्य=पूर्वोक्तभेद में-प्रपञ्चनिष्ठ ब्रह्मात्मकत्वरूपब्रह्मतादात्म्यविरोधित्वरूप जो तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्वांश है, उसका निषेध द्वारा प्रपञ्च ब्रह्मतादात्म्य बोधन करता है । ऐसा अर्थ करने से-ब्रह्मतादात्म्य यदि ब्रह्मात्मकत्व है तब अभेद शब्दार्थ वह कैसे हुआ क्योंकि-अभेदशब्द का उस अर्थ में शक्ति तो है नहीं ? एवं, भेदाभावरूप अर्थ में व्युत्पन्न अभेदशब्द भेद का क्यों किञ्चित् भी विरुद्ध अर्थ का बोधन यहां पर नहीं करता ? इत्यादि आकाङ्क्षा का उत्थान नहीं हुआ । क्योंकि भेद में तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियो-

गिताकत्वांश का प्रतिषेध करना ही भेदविरुद्धार्थबोधकत्व है, तथा तादात्म्य का यौगिकपर्य्याय वाचकत्व भेद में नहीं होने पर भी तादृशप्रति-योगिताकत्वांशनिषेध द्वारा ही तादात्म्यबोधक भी हो जाता है । यदि कहें कि भेद सहिष्णु अभेद ही तादात्म्य है और वही अभेदपद का वाच्यार्थ है और इसी अभिप्राय से परपक्षगिरिवज्र में यहां तादात्म्य शब्द आया है ? सो ठीक नहीं--क्योंकि तब भेदाभेद में भेदपद व्यर्थ हो जाता है भेदाभेद का यावदर्थ है तावदर्थ अभेदपद से ही उक्त हो जाता है। इत्यादि । तस्मात् उक्त ही अर्थ ठीक है ॥१०॥

(११)

एवं च भेदनिषेधकश्रुतेः भेदे ब्रह्मतादात्म्यपरिपन्थित्वांश-निषेधेनार्थवत्त्वात्, सर्ववस्तुषु ब्रह्मात्मकत्वबाधनप्रवृत्तायास्तस्या-स्तावन्मात्रेणैव कृतकार्य्यतयाऽन्यत्राकाङ्क्षाविरहात् । अभेदश्रुतेरपि साक्षात्तादात्म्यविधानपराया भेदे तादात्म्यपरिपन्थित्वांशबाधन-मात्रेणार्थवत्त्वादन्यत्राकाङ्क्षाविरहाच्च न तयोर्भेदस्वरूपप्रतिषेधकत्वं तथा भेदबोधकश्रुतेर्ब्रह्मतादात्म्यपरिपन्थित्वांशत्यागपूर्वकं विभिन्न-पदार्थस्वरूपमात्रबोधनपरत्वेनाभेदवाक्यानां ब्रह्मतादात्म्यविधान-मात्रपरत्वेन च विरोधाभावात्सामानाधिकरण्यविरोधोऽपि नेति पर्य्यवसितार्थः । ''एकमि'' त्यादिश्रुतिविरोधस्तु द्वितीयेंऽशेतादा-त्म्यविचारावसरे परिहरणीय इति तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

इस प्रकार भेदनिषेध का भेद में ब्रह्मतादात्म्यविरोधित्वांश निषेध द्वारा अर्थवत्त्व है । क्योंकि प्रपञ्च में ब्रह्मात्मकत्वबोधन में प्रवृत्तश्रुति तावन्मात्र से कृतार्थ है । अतएव स्वरूपतः भेदनिषेध में आकाङ्क्षा नहीं है। अभेदश्रुति को भी प्रपञ्च में ब्रह्मतादात्म्यबोधनमात्र से प्रयोजन होने से, भेद में तादात्म्यपरिपन्थित्वमात्र का बाधन से आकाङ्क्षा निवृत्त हो जाती है इसलिये वह भी भेद का स्वरूपतः बाध नहीं करती है । इसलिये उन दोनों श्रुति से भेद का स्वरूपतः निषेध नहीं होता है । इसी प्रकार भेदश्रुति को ब्रह्मात्मकत्वविरोधित्वांशत्यागपूर्वक तत्तत्पदार्थस्वरूपमात्र-

बोधकत्व होने से तथा अभेदवाक्य को ब्रह्मतादात्म्यमात्रबोधकत्व होने से परस्परविरोधी भी नहीं है । यह परपक्षगिरिवज्र का पर्य्यवसितार्थ है । ''एकमेव'' इत्यादि श्रुतिविरोधपरिहार द्वितीय अंश में तादात्म्यविचार के अवसर पर करूँगा ॥११॥

(१२)

ननु तादात्म्यविरोधित्वांशत्यागे भेदे किमपरमवशिष्यते यदर्थमेतावानायास इति चेत् । उच्यते । यथा चिदचिदात्मकनिखिलप्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वावस्थाऽभेदेऽस्माकमाग्रहः तथैव श्रुतिप्रतिपादितचिदचिदात्मकप्रपंचस्य स्वरूपसत्तामात्रसंरक्षणार्थं भेदेऽस्माकमाग्रहः अन्यथा एकतरश्रुतिबाधापत्तेः । न तु प्रपंचे साङ्ख्यवैशेषिकादिवत् स्वतन्त्रसत्तालाभाय वा भेदस्वरूपे प्रेमातिशयाद्वा तत्राग्रहः। येन तादात्म्यांशपरित्यागे मदायासवैयर्थ्यशङ्कावसरः स्यादिति । अत्रेदं बोध्यम्-भेदे हि तावदस्त्यंशद्वयम्, तत्रस्वप्रतियोग्यनुयोगिनोस्तादात्म्यपरिपन्थित्वांशः एकः, तयोर्वैलक्षण्यप्रतीति निर्वाहकत्वांशोऽपरः, तत्र पूर्वांशस्य भेदनिषेधकश्रुत्याबाधितत्वेऽप्यपरांशस्य संरक्षितत्वात्तावन्मात्रस्यब्रह्मात्मकब्रह्मविलक्षणप्रपञ्चस्वरूपसत्तार्थमपेक्षितत्वाच्च सर्वमेव समञ्जसमस्माकं न कापि क्षतिरिति । एतदभिप्रायेणैवोक्तं-'परपक्षगिरिवज्रे' ''भेदवाक्यानां पदार्थस्वरूपमात्रविधानपरत्वेन नैराकाङ्क्ष्यमित्युक्तम् । तस्याऽयं भावः नहि श्रुतिः भेदस्वरूपं स्वशब्दनिवेदितत्वेन ब्रह्मभिन्नं जगत् इत्यादिरूपेणावेदयति किन्तु ''नित्यो नित्यानाम्'' भोक्ता भोग्यं प्रेतितारं च मत्वा'' इत्यादिना तत्तद्वस्तुस्वरूपप्रतिपादनमुखेन परस्परविलक्षणतत्तद् वस्तुस्वरूपसत्ताशेषतयैव, एवं च भेदे यावन्मात्रं स्वप्रतिपाद्यतादृशतादृशवस्तुस्वरूपसद्भावायापेक्षितं तावन्मात्रधर्मवत्तयैव भेदं विषयीकरोति नत्वनाकाङ्क्षितांशवत्तयाऽपि वैयर्थ्यात् । तथा च तत् तत्पदार्थस्वरूपगतवैलक्षण्यप्रतीतिनिर्वाहकत्वमात्रस्य तादृश-

पदार्थस्वरूपसद्भावायापेक्षितत्वात्तावन्मात्रधर्मवत्तयैव भेदं श्रुतिर्विषयी करोति नतु ब्रह्मतादात्म्यविरोधि-त्वांशमपीति विभावनीयम्--।

अब प्रश्न होता है कि भेद में प्रतियोग्यनुयोगितादात्म्यविरोधि-त्वांश जो है उसका जब त्याग कर देते हैं तब भेद में क्या अवशिष्ट रह जाता है जिसके लिये इतना प्रयास करते हैं ? उत्तर-जिस प्रकार चिद-चिदात्मक निखिलप्रपञ्च में ब्रह्मात्मकत्वबुद्धि के लिये अभेद में मेरा आग्रह है । उसी प्रकार श्रुतिप्रतिपादितचिदचिदात्मकप्रपञ्च का स्वरूप-सत्तासंरक्षणार्थ भेद में हमको आग्रह है । अन्यथा एकतर श्रुति का बाध हो जाता है । नहीं कि-साङ्ख्य वैशेषिकादि जैसे प्रपञ्च में स्वतन्त्रसत्ता-लाभार्थ अथवा भेदस्वरूप में प्रेमातिशय होने से आग्रह हैं यहां पर यह जानना चाहिये कि भेद में दो अंश होता है--स्वप्रतियोगि को अनुयोगी के साथ तादात्म्य भाव बोधन, दूसरा-तत्तत्पदार्थ में विलक्षणकार्य्यकारि-त्वादि-बोधन, इन दोनों में तादात्म्यविरोधित्वांश त्याग कर देने पर भी तत्तत्पदार्थविलक्षण स्वरूपबोधनांश तो सुरक्षित रहता ही है--और हमको तावन्मात्र ही तो ब्रह्मात्मकब्रह्मविलक्षण प्रपञ्च बोधन के लिये अपेक्षित भी है । इसलिये तादात्म्यांश का भेद में त्याग करने पर भी कोई असाम-ञ्जस्य नहीं रहता । इसी अभिप्राय से परपक्षगिरिवज्र में कहे हैं कि-- ''भेदवाक्य की पदार्थस्वरूपविधानमात्र से निराकाङ्क्षता हो जाती है'' इत्यादि यह पहले मैं कह आया हूं । इसका यह अभिप्राय है कि--भेद-श्रुति भेदस्वरूप ब्रह्म से जगत् भिन्न है इस प्रकार स्वतन्त्रतया भेदबोधन नहीं करती । किन्तु ''नित्यो नित्यानाम्'' भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा इत्यादि रूप से तत्तद्वस्तुस्वरूपबोधन द्वारा परस्परविलक्षण तत्तद्वस्तुस्वरूप सत्ताशेषतया भेदबोधन करती है। एवं च भेद में-स्वप्रतिपाद्यतादृशतादृश वस्तु-स्वरूपसद्भाव से यावन्मात्र अपेक्षित है तावन्मात्रधर्मवत्तयैव भेदश्रुति भेद को विषय करती है न कि अनाकाङ्क्षितधर्मवत्तया भी । इसलिये तत्तत्पदार्थगतवैलक्षण्यप्रतीतिनिर्वाहकत्वमात्र अपेक्षित होने से तावन्मात्र

धर्मवत्तया ही भेदश्रुति भेद को विषय करती है न कि अनाकाङ्क्षित तथा-श्रुत्यन्तरबाधित तादात्म्यविरोधित्वांश का भी .... यह जानना चाहिये ॥१२॥

(१३)

तथा च नैयायिकादिप्रसिद्धतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावरूपाद्विलक्षण एव भेदपदार्थः भेदाभेदघटकतया सिद्धान्तिनां सम्मतः । तस्य प्रतियोग्यनुयोगितादात्म्यविरोधित्वाभावेऽपि प्रतियोग्यनुयोगिनोः स्वरूपवैलक्षण्यप्रतीतिमात्रनिर्वाहकत्वाद्भेदपदवाच्यतेति न विस्मर्तव्यम् । न च स्वरूपवैलक्षण्यप्रत्ययसत्त्वे कथं तादात्म्यमित्यपि वाच्यम्, सत्यपि स्वरूपवैलक्षण्यप्रत्यये तदात्मकत्वस्याहिकुण्डलकनककटकादौ पूर्वमुपपादितत्वादिति।

इसलिये भेदाभेदघटक भेदपदार्थ न्यायादिमतसिद्धतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभावरूपभेद से विलक्षण ही सिद्धान्तसम्मत है । उसको प्रतियोगी और अनुयोगी में तादात्म्याभावबोधकत्व नहीं होने पर भी--प्रतियोगी अनुयोगी में परस्परस्वरूपवैलक्षण्यमात्रबोधकत्व होने से भेद पद में व्यवहार्य्यता है । यह मैं पूर्वकथित का ही स्मरण कराता हूं । कहें कि स्वरूपवैलक्षण्यप्रत्यय होने पर प्रतियोग्यनुयोगि में तादात्म्य कैसे रह सकता है ? नहीं कटककुण्डल में सामान्यतः सुवर्ण से वैलक्षण्य का अनुभव होते रहने पर भी सुवर्णात्मकत्व देखा जाता है । इसलिये विरोध नहीं है । यह पूर्व ही उपपादन कर आया हूं ।।१३॥

(१४)

अत्र पुनरिदं चिन्त्यते । पूर्वं निरुक्तो भेदः भावरूपतयाऽभावरूपतया वा सिद्धान्ते सम्मतः ? न च भेदस्याभावतयैव प्रसिद्धत्वात्सिद्धान्तेऽपि तथैव सम्मतः स्यादिति न चिन्तावसर इति वाच्यम् । यादृशभेदस्याभावरूपत्वेन प्रसिद्धिः तादृशभेदस्य प्रकृते निरस्तत्वात्, इति स भावरूप एवेत्यस्माकं प्रतिभाति, 'भेदवाक्यानां पदार्थस्वरूपविधानपरत्वेन नैराकाङ्क्ष्यम्' इति वदता पर-

पक्षगिरिवज्रकृतातथाविधाभिप्रायस्यैवव्यक्तीकरणात् । तथाहि भेदवाक्यैर्हि पदार्थस्वरूपं विधीयते न तु तादात्म्यं प्रतिषिध्यते इति तदर्थः सच पदार्थः, भावरूप एव नाभारूप इत्युक्तमेवानुपदम् । एवं सति यदि भेदवाक्याद्भावरूपं पदार्थमात्रं विधीयते तर्हि भेदाप्रतिपादकत्वात्कथं तस्य भेदवाक्यत्वमित्याकाङ्क्षायां तादृशपदार्थस्वरूपस्यैव भेदत्त्वमपि वक्तव्यम्, समायातं तर्हि भेदस्य भावरूपत्वमिति । युक्तं चैतद्भेदस्याभावरूपत्वस्वीकारेतस्याभावत्व-निर्वाहाय-प्रति-योग्यनुयोगिनोः कस्यचिदपि सम्बन्धस्या भावोऽवश्यं वक्तव्यं स्वानुयोगिनि विवक्षितसम्बन्धेन स्वप्रतियोगिसत्त्वासहिष्णुत्व-स्यैवाभावत्वस्वरूपनिर्वाहकत्वात् । दृश्यते हि यत्र यस्याभावस्तत्र विवक्षितसंयोगादिसम्बन्धेन नियमतस्तस्याप्रतीतिरिति। अन्यो-ऽन्याभावस्थलेषु नियमतः, अनुयोगिनि प्रतियोगि-तादात्म्य प्रत्ययाभावेन तत्सम्बन्धेन प्रतियोग्यभावस्यैवान्योन्याभावस्वरूप-निर्वाहकत्वात् । प्रकृतभेदस्यान्योन्याभावरूपे प्रतियोग्यनुयोगिनोः तादात्म्यविरहोऽपि स्वीकर्तव्यः स्यादिति सर्वोऽपि पूर्वोक्तप्रयासो व्यर्थः स्यात् इति । तस्मात् भावरूप एव भेदः प्रकृतभेदाभेदघटकं इति विभावनीयः ।

यहां पर फिर विचार करता हूं कि पूर्वोक्त भेदाभेदघटक भेदपदार्थ सिद्धान्त में भावरूप मानते हैं कि अभावरूप ? कहें कि भेद अभावरूप से ही प्रसिद्ध है प्रसिद्धार्थत्याग में कोई हेतु नहीं इसलिये भेद अभावरूप ही हैं ? नहीं यादृश भेद अभावरूप से लोक में प्रसिद्ध है वह तादात्म्य-विरोधी भेद भेदाभेदघटक नहीं है । इसका उपपादन हो ही चुका है । तस्मात्-पूर्वोक्त भेदाभेद घटक भेद भावरूप ही है यह हमको ठीक लगता है "भेदवाक्य पदार्थस्वरूपविधानमात्रपरत्व है" यह परपक्षगिरिवज्र-वाक्य का भी यही आशय प्रतीत होता है । "भेदवाक्य से पदार्थस्वरूप का ही बोधन किया जाता है न कि तादात्म्य का निषेध किया जाता हैं । यह परपक्षगिरिवज्र का भावार्थ है ।" "भोक्ता भोग्यम्" इत्यादि भेद-

बोधकवाक्यबोद्धय पदार्थस्वरूप तो भावरूप ही है अभावरूप नहीं यही पहले बता आया हूं। इसलिये यदि भेदवाक्य से भावरूपपदार्थमात्रबोधित होता है तब अभावरूपभेदाप्रतिपादकत्वात् उस वाक्य को भेदवाक्य कैसे कह सकते हैं। इस आकाङ्क्षा में तादृशपदार्थस्वरूप को अथवा तद्-घटकतत्स्वरूपधर्मविशेष को ही भेद कहना होगा। तब अनिच्छया भी भेद को भावरूप मानना पड़ेगा। यही बात युक्त भी है, क्योंकि भेद को यदि अभावरूप मानेंगे तो उसका अभावत्वसिद्धि के लिये प्रतियोगी-अनुयोगी में किसी सम्बन्ध का अभाव भी मानना ही पड़ेगा। क्योंकि अभिमत सम्बन्ध से अनुयोगी में प्रतियोगी का असत्त्व ही तो अभाव में अभावत्व का स्वरूप निर्वाहक होता है। देखा जाता है कि जहां पर घटादिवस्तु का अभावव्यवहार होता है वहां पर घटादिवस्तु का संयोगाद्यन्यतम सम्बन्ध से असत्त्व की नियमतः प्रतीति होती है। अन्योन्याभाव-स्थल में अनुयोगी में प्रतियोगी का तादात्म्याभाव ही अन्योन्याभाव का अन्योन्याभावत्वनिर्व्वाहक होता है। ''घटः पटो न'' इत्यादि अन्योन्या-भावप्रतीतिस्थल में ऐसा ही देखा जाता है। इसलिये भेदाभेदघटकभेदको यदि अन्योऽन्याभावरूप मानेंगे तब प्रपञ्चब्रह्मभेद में भी अभावत्वरूप-निर्वाहार्थ अगत्या प्रपञ्च ब्रह्म में तादात्म्याभाव मानना ही पड़ेगा तब तो पूर्वोक्त भेदाभेद के लिये सब प्रयास व्यर्थ ही हो जायगा। अतः भेदाभेद-घटकभेदपदार्थ अभावरूप नहीं है अपि तु भावरूप ही है यह जानना चाहिये ॥१४॥

(१५)

अथ भावरूपोऽपि सः-किमात्मक इतिचेत् उच्यते--इदमेतादृशम्, इदं नैतादृशम्, इदमेतत्कार्य्यं करोति, इदन्नैतत्कार्य्यं करोति, इत्यादि स्वरूपतः कार्य्यतश्च तत्तद्वस्तुस्वरूपविषयक-विलक्षणानुभूतिनिर्वाहकः तत्तद्वस्तुगतविशेषतारूपः स्वतोव्यावृत्तः नित्यः भगवदिच्छाशक्त्यभिव्यङ्ग्यः तत्तद्वस्तुस्वरूपभूतः स्वतन्त्रो वा धर्मविशेष एव, एतादृशविशेषतासमाश्रयणादेव गुणशक्त्यादयः

सर्वे ब्रह्मधर्मा विशेषा इत्युच्यन्ते । तादृशधर्मवत्त्वादेव च ब्रह्म सविशेषमुच्यते । शुद्धब्रह्मात्मकत्वरूपाभेदाभिप्रायेण ब्रह्मानात्मक-धर्मशून्यत्वाभिप्रायेण च निर्विशेषं चोच्यते इति । एतदभिप्रायेणैव च सविशेषनिर्विशेषश्रीकृष्णस्तवराजे पूर्वाचार्य्याः-

[१]निर्गुणं तदिति वैदिकं वचोऽविद्यया त्वयि विशेषणासहे ।
वस्तुतोऽखिलविशेषसागरे नो विरुद्धमिति तावदस्तु मे ।।२।।

[२]किंच किंचिदिह विद्यते नहि त्वां विनाण्वपि तथाऽखिलेश्वर।
नेति नेति च निषेधिताश्रयस्तद्विशेषविषयोऽपि सम्मतः ।।६।।

[३]जन्मकर्मगुणरूपयौवनं दिव्यमेव कवयो वदन्ति हि ।
श्रौतवाद उपलभ्यते तथा निर्व्विशेषचिति मंगलालये ।।१०।।

इत्याहुः इति सर्वंसमञ्जसम् ।

इति मैथिलझोपाख्यभगीरथशर्मविरचते द्वैताद्वैताविवेके प्रथमः सूत्रभूतोऽशः ।

यहां जिज्ञासा होती है कि प्रकृतभेद भावरूप होते हुए भी किं स्वरूप है ? उत्तर--''यह एतादृश है'' ''यह एतादृश नहीं है'' यह इस कार्य को करता है ''यह इस कार्य को नहीं करता है'' इत्यादि स्वरूप से एवं कार्य्य से तत्तद्वस्तुविषयक-विलक्षणप्रतीतिनिर्व्वाहक-तत्तद्वस्तुगत-विशेषतारूपस्वतोव्यावृत्त-नित्य-भगवदिच्छासे-अभिव्यङ्ग्य-तत्तद्वस्तु-स्वरूपात्मक अथवा स्वतन्त्रधर्मविशेष ही है । एतादृशविशेषता के समाश्रय से ही गुणशक्त्यादि सब ब्रह्मधर्म, विशेषशब्द में भी व्यवहृत होता है । एतादृश विशेष धर्म से ही ब्रह्म सविशेष तथा शुद्धब्रह्मात्मकत्वरूप अभेदाभिप्राय से तथा ब्रह्मानात्मकधर्मशून्य होने से ही ब्रह्म निर्विशेष भी कहलाते हैं । इसी अभिप्राय से पूर्वाचार्य ने ''सविशेष-निर्विशेष श्रीकृष्ण-

स्तवराज में भगवद्गुणधर्मादि में विशेषशब्द का प्रयोग किये हैं तथा तादृश-धर्मवत्ताभिप्राय से ब्रह्म को विशेष भी कहे हैं ।

हे देव, निर्गुण, आपको आविद्यकगुण न होने से ही कहा गया है। इसलिये वास्तविकस्वरूपात्मक अनन्तविशेष के सागर आप में 'निर्गुणश्रुति' विरुद्ध नहीं होती है ।।२।।

किञ्च हे अखिलेश्वर एक अणु भी संसार में नहीं है जो आपके विना हो । आप ''नेति नेति'' श्रुति का निषेधगोचर होते हुए भी ''सर्वस्य वशीसर्वस्येशानः'' ''पराऽस्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते'' इत्यादि सविशेष श्रुति का भी विषय हैं ।।६।।

आपका जन्म कर्म गुण रूप यौवन सब दिव्य अलौकिक है । यह व्यास आदि मनीषी गण कहते हैं श्रुति भी वैसा ही कहती है सर्वमङ्गल-गुणगणालय । एवमपि सर्वदोषरहित अतएव निर्विशेषचित्स्वरूप में सब संभव रहै ।

इति मैथिलभगीरथशर्मकृते-द्वैताद्वैतविवेकस्य भावानुवादे प्रथमोऽशः ।

अथ द्वितीयोंऽशः

जयति च मद्गुरुचरणं यत्संसर्गादवोधोऽपि ।
काञ्चनभूतिं लभते पारससङ्गाद्यथा लौहः ॥

(१)

ननु किंतत्तादात्म्यं ब्रह्मात्मकत्वं वा यत्तत्त्वत्रयस्य स्वरूपतः कार्य्यतश्चवैलक्षण्येऽपि निर्व्वहति ? न तावत्स्वरूपैक्यम्, तथासति तत्त्वत्रयस्य वैलक्षण्यघटितस्वरूपविलोपापत्तेः । यदि च अन्यविधमेवेत्युच्यते तदा लोकप्रसिद्धभेदघटकीभूततादात्म्यस्य स्वरूपैक्यरूपत्वात् त्वया च तादृशतादात्म्यस्य ब्रह्मात्मकत्वरूपतयाऽस्वीकारात् तत्त्वत्रयस्य सत्यपि ब्रह्मात्मकत्वे स्वरूपैक्यलक्षणतादात्म्यघटितभेदप्रवेशसम्भवान्नैकान्ततो भेदनिषेधकश्रुतिविरोधोद्धार- इतिचेन्न-किं तावत्स्वरूपैक्यं? यत्तादात्म्यस्वरूपतया त्वदभिमतम्। न तावत्प्रथमसङ्ख्यारूपम् ? स्वरूपगतैकत्वसङ्ख्यावत्त्वस्य सर्वसमानत्वेन भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वासम्भवात्, द्वित्वासमानाधिकरणस्य तस्यासंभवाच्च । भावरूपस्य तस्य ब्रह्मगतत्वे त्वन्मते द्वैतापत्तेश्च स्वरूपगतभेदाभाव इतिचेन्न-तत्रापि भेदस्तादात्म्यघटित एव वाच्यः तत्रापि तादात्म्यं स्वरूपैक्यं तदपि स्वरूपगतभेदाभाव इति जिज्ञासापरम्पराया अनिवृत्तेस्तादात्म्यस्य दुर्वचत्वापत्तेः । किञ्च सर्वेषां ब्रह्मात्मकत्ववादिनामस्माकमपि तादात्म्यघटितभेदस्य स्वरूपगतत्वेनानभिमतत्वात्स्वरूपगततादात्म्यघटितभेदाभावलक्षणस्य स्वरूपैक्यरूपतादात्म्यस्य निरुक्तवैलक्षण्येऽपीष्टत्वात् । किं च त्वन्मतेऽपि स्वरूपैक्याभावेऽपि गुणगुणिनोरभेदस्य तादात्म्यस्य चाङ्गीकारान्न स्वरूपैक्यलक्षणं तादात्म्यं भेदघटकतया वक्तव्यं तयोस्तादात्म्यविरहापत्तेः । किन्त्वन्यविधमेव वक्तव्यमिति मन्मतेऽपि न स्वरूपैक्यलक्षणतादात्म्यस्य भेदघटकत्वानङ्गीकारदोष इति। यदि च त्वन्मते गुणगुणित्वादिकृतवैलक्षण्येऽपि स्वरूपैक्यम्

तयोरपृथक्सिद्धत्वादित्युच्यते, तर्हि मन्मतेऽपि निरुक्तवैलक्षण्येऽपि तेषां ब्रह्मापृथक्सिद्धत्वात्स्वरूपैक्यमस्त्येवेति न कापि क्षतिरिति।

वह तादात्म्य और ब्रह्मात्मकत्व क्या है जो तत्त्वत्रय को स्वरूप से कार्य्य से वैलक्षण्य रहने पर भी बना रहता है ? स्वरूपैक्य भी तादात्म्य नहीं हो सकता है । क्योंकि तत्त्वत्रय का वैलक्षण्यघटितस्वरूप का ही तब विलोप हो जायगा । यदि अन्यविध तादात्म्य का स्वरूप मानें तो भी लोक प्रसिद्ध भेदघटक तादात्म्य तो स्वरूपैक्य ही है परञ्च आपके मत में ब्रह्म-जगत् में स्वरूपैक्यरूपतादात्म्य तो है ही नहीं तब तत्त्वत्रय को ब्रह्मात्मकत्व होने पर भी स्वरूपैक्यलक्षणतादात्म्यघटितभेद तो रहेगा ही तब भेदनिषेधकश्रुति का विरोध परिहार कैसे हुआ ? उत्तर-तादात्म्यस्वरूपतया अभिमत स्वरूपैक्य क्या है ? एकत्वसंख्यारूप भी नहीं है क्योंकि एकत्वसंख्या को सर्वत्र होने से भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्व नहीं हो सकता हैं द्वित्वासमानाधिकरण एकत्व का तो संभव ही नहीं है और संख्या को भावरूप होने से ब्रह्म में रहने से तुम्हारे मत में द्वैतापत्ति भी हो जायगी । स्वरूपगतभेदाभाव ही एकत्व है ? सो भी नहीं क्योंकि उसमें भी भेद तादात्म्यघटित ही होगा । वहां भी तादात्म्य स्वरूपैक्य ही होगा वह भी स्वरूपगत भेदाभावरूप होगा इस परम्परा से तादात्म्य दुर्वच हो जायगा। किञ्च सबको ब्रह्मात्मकत्ववादी मेरे मत में तादात्म्यघटितभेदाभावरूप स्वरूपैक्य निरुक्तवैलक्षण्य रहने पर भी जगत् में दृष्ट ही है किंच तुम्हारे मत में भी स्वरूपैक्य नहीं रहने पर भी गुणगुणी में अभेद और तादात्म्य का स्वीकार किया गया है । अतएव तुम्हारे मत में भी भेदघटक तादात्म्य स्वरूपैक्य-लक्षण नहीं हो सकता है किन्तु अन्यविध ही तादात्म्य को भेदघटकत्व मानना पड़ेगा । इसलिये हमारे मत में भी भेदघटकतादात्म्य अन्यविध ही होगा तो क्षति ही क्या ? यदि तुम्हारे मत में गुणगुणित्वादिकृतवैलक्षण्य रहने पर भी गुणगुणी को अपृथक्सिद्ध होने से स्वरूपैक्य है ऐसा कहो तो मेरे मत में भी निरुक्त वैलक्षण्य रहने पर भी प्रपञ्च को ब्रह्म से अपृथक्सिद्ध होने से स्वरूपैक्य है ही अतः कोई क्षति नहीं ।

(२)

वस्तुतस्तु, सिद्धान्ते-तादात्म्यम्, स आत्मा यस्य स तदात्मा तस्य भावस्तादात्म्यम् । आत्मा तु स्वतन्त्रसत्ताश्रयः । सत्तायां स्वातन्त्र्यं तु सत्तान्तरानधीनत्वमिति । तादृशस्वतन्त्रसत्ताश्रयः परमात्मैव न तु जडजीवादि, तस्य परमात्मसत्ताधीनसत्ताकत्वात् ''तज्जलान्'' इति श्रुतेस्तदुत्पत्तिस्थितिलयकत्त्वात्तच्छक्तित्वेन तदपृथक्सिद्धत्त्वाच्च । घटादौ गुणगुण्युपादानोपादेयभावकृततादात्म्यव्यवहारस्तु, आपेक्षिक स्वतन्त्रसत्त्वमादाय लौकिक इति न तत्राप्रसङ्गदोषः । तथा च तादृशस्वतन्त्रसत्ताश्रयब्रह्माधीनसत्ताकत्वमेव चिदचित्प्रपञ्चस्य ब्रह्म-तादात्म्यम् । एवंच न कस्मिंश्चिदपि वस्तुनि तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावलक्षणो ब्रह्मभेदो येन भेदनिषेधकश्रुतेरेकत्व-बोधकश्रुतेर्वाविरोधःस्यात् । एकत्वमपि तादृशभेदाभाव एवेत्युक्तम्, अन्यप्रकारकाभेदस्यैकत्वस्य च निर्वक्तुमशक्यत्वात् । ननु ''इदमेतन्न'' इत्यादि प्रतीत्यसाधारणकारणत्वं भेदत्वम्, तादृशभेद एव निषेधश्रुति-गोचरः, तादृशभेदाभाव एव चैकत्वविधिश्रुतिगोचरः । तथा च निरुक्तत्वदीय पारिभाषिकोऽपिभेदो निषेधश्रुतिगोचर एव, तस्यापि 'इदमेतन्न' इत्यादि प्रतीतिनिर्व्वाहकत्वस्य त्वयाऽभ्युपगमादिति चेन्न । 'इदमेतन्न' इत्यत्र नञा किं प्रतिषिद्ध्यते इति जिज्ञासायां ऐतदात्म्यम् इदमर्थे प्रतिषिद्ध्यते इत्येव त्वयाऽपि वक्तव्यं नञर्थस्तत्र किमिति जिज्ञासायामपि भेद एव नञर्थो वक्तव्यः । भेदश्च किंलक्षण इत्याकाङ्क्षायां तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव एव स वक्तव्य इत्यु-भयथापि तादात्म्यघटित एव भेदो निषेधश्रुतिगोचरतामायातीति न पूर्वोक्ताद्विशेषः । मन्मते तु विलक्षणकार्य्यकारितानिर्वाहकनिरुक्त-विशेषताख्यभेदमादायैव तद्व्यवहारः स च ब्रह्माधीनसत्ताकत्व-लक्षणनिरुक्ततादात्म्यान्न विरुद्ध्यते इत्युक्तमेव ।

वस्तुतः सिद्धान्त में तादात्म्य=वह आत्मा है जिसका वह तदात्मा उसका भाव तादात्म्य वस्तु है । आत्मा स्वतन्त्रसत्ताश्रय को कहते हैं ।

सत्ता में स्वातन्त्र्य वस्तु=अन्यसत्ता से अनधीनसत्तावत्व है । एतादृश स्वतन्त्रसत्ताश्रय एक परमात्मा ही हैं । जड़जीवादि नहीं । क्योंकि जड़-जीवादिकी सत्ता नियमतः परमात्मसत्ता सापेक्ष है । ''तज्जलान्'' इस श्रुति के अनुसार प्रपञ्च परमात्मा से ही उत्पत्ति स्थितिलयवान है । तथा शक्तिरूप होने से ब्रह्मापृथक् सिद्ध होने से जगत् सर्वथा ब्रह्मसत्ताधीन सत्ताश्रय है स्वतन्त्र नहीं घटपटादि-सामान्य पदार्थ में गुणगुणिभावकृत-तादात्म्यव्यवहार आपेक्षिक स्वातन्त्र्य लेकर चलता है इसलिये वहां पर अप्रसङ्ग दोष नहीं । तब तादृशस्वतन्त्रसत्ताश्रयब्रह्माधीनसत्ताकत्व ही चिदचित्प्रपञ्च में ब्रह्मतादात्म्य है । इस लिये किसी भी वस्तु में तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलक्षण ब्रह्मभेद नहीं है । जिससे कि भेदनिषेधकश्रुति से अथवा एकत्वश्रुति से विरोध का सम्भव हो । एकत्व भी तादृश भेद का अभावरूप ही है यह पहले कहा है, क्योंकि अन्य प्रकार का अभेद अथवा एकत्व का निर्वचन करना अशक्य है । कहें कि वह यह नहीं हैं, इत्यादि प्रतीति का असाधारणकारण को ही भेद कहते हैं और वही भेद निषेधश्रुति विषय है । तब पूर्वोक्त पारिभाषिक भी भेद निषेधकश्रुति विषय ही है क्योंकि उसको भी 'इदमेतन्न' इत्यादि प्रतीति-निर्व्वाहकत्व आपने माना ही है ? उत्तर-''इदमेतन्न'' यहां नकार से किसका प्रतिषेध होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहना होगा कि इदम् पदार्थ में एतत्पदार्थ का तादात्म्य का प्रतिषेध होता है । नञर्थ क्या है इस जिज्ञासा में भी भेद को ही नञर्थ कहेंगे । भेद क्या है इस आकांक्षा में भी तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावरूप ही भेद बताएंगे तब उभयथा-तादात्म्यघटित ही भेद निषेधविषय होता है । मेरे मत से तो पूर्वोक्तविलक्षणकार्य्यकारितानिर्वाहक विशेषतारूपभेद ही को लेकर सब व्यवहार चलता है । वह विशेषतारूप भेद ब्रह्माधीनसत्ताकत्त्वलक्षणब्रह्म-तादात्म्य से विरुद्ध नहीं होता है यह कह ही आया हूं ॥२॥

(३)

यदि च भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यं तदेव निषेद्धय भेदप्रति-

योगितावच्छेदकसम्बन्ध इति स्वीकर्तुं शक्यते, तदा तु सुतरामेव भेदाभेदवादिनां निषेधकश्रुतिविरोधपरिहारः । जगद्ब्रह्मणोः तादात्म्यं स्वीकुर्वत्तामस्माकं तादृशसम्बन्धावच्छिन्नब्रह्मभेदस्य क्वाप्यस्वीकारादिति।

यदि कहें कि भेदाभेद से ही तादात्म्य है वही भेदीयप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध है तब तो बहुत ही सीधे रूप से भेदाभेदवादी को निषेधश्रुतिविरोधपरिहार हो जाता है । जगद्ब्रह्म में तादात्म्यस्वीकार करने वाले हमको तादात्म्यसम्बन्धावाच्छिन्नप्रतियोगिताकब्रह्मभेद का जगत् में कभी भी संभव नहीं ॥३॥

(४)

ननु ब्रह्मातिरिक्तवस्त्वभाव एवैकत्वं, तच्च त्वन्मते तत्त्वत्रये परतन्त्रसत्ताश्रयत्वस्वीकारेपि बाध्यते इति चेन्न त्वन्मतेऽप्यनिर्वचनीयजगत्स्वीकाराद्बाधापत्तेः । न च ब्रह्मसमानसत्ताकब्रह्मभिन्न वस्तुशून्यत्वमेवैकत्त्वम् । मन्मते प्रपञ्चस्य ब्रह्मसमानसत्ताकत्वाभावेन न बाधावसरः इति वाच्यम् । परतन्त्रसत्ताश्रये प्रपञ्चे स्वतन्त्रसत्ताश्रय-ब्रह्मसमानसत्ताकत्त्वस्यास्माभिरप्यनङ्गीकारात् । एतावान् परं विशेषो यत्त्वया तादृशप्रपञ्चसत्ताया अपारमार्थिकत्वं मन्यतेऽस्माभिस्तु पारमार्थिकमिति । न च सत्तायां समानत्वं पारमार्थिकत्वेनैव विवक्षितमिति वाच्यम् । त्वदुक्तलक्षणस्य भेदस्य ब्रह्मात्मके प्रपञ्चे पूर्वमेवनिरस्ततया तादृशब्रह्मभिन्नवस्त्वभावान्नतादृशैकत्वबाध इति ।

ब्रह्मातिरिक्तवस्त्वभाव को भी एकत्व नहीं कह सकते हैं । क्योंकि तुम्हारे मत में भी ब्रह्म से अतिरिक्त अनिर्वचनीय जगत् विद्यमान है । कहें कि ब्रह्मसमानसत्ताकब्रह्मभिन्नवस्तुशून्यत्व ही एकत्व है । तब ब्रह्मसमानसत्ताकवस्त्वन्तरशून्यत्व ब्रह्म में अक्षुण्ण रहता ही है, तो मेरे सिद्धान्त में भी स्वतन्त्रसत्ताश्रय ब्रह्म से भिन्न परतन्त्रसत्ताश्रय जगत् को रहने पर भी एकत्व अक्षुण्ण है । फरक इतना ही है कि आप परतन्त्रप्रपञ्चसत्ता को

अपारमार्थिक मानते हो मैं पारमार्थिक मानता हूँ। कहें कि सत्ता में समानत्व पारमार्थिकत्वरूप से ही विवक्षित है तथापि मदुक्त ब्रह्मात्मकप्रपञ्च त्वदुक्त तादात्म्यसम्बावच्छिन्नप्रतियोगिकभेद का सद्भाव नहीं होने से ब्रह्मसमान-सत्ताक-त्वदुक्ततादात्म्यघटितभेदवद्वस्तु नहीं होने से ब्रह्मसमानसत्ताकब्रह्म-भिन्नवस्त्वन्तरशून्यत्वलक्षण एकत्व ब्रह्म में सदैव विद्यमान ही है इसलिये तादृशलक्षण भी एकत्व ब्रह्म में बाध नहीं होता ॥४॥

(५)

अथ चिदचित्प्रपञ्चस्य ब्रह्माधीनसत्ताकत्वेन ब्रह्मतादात्म्यात् तत्र निषेधगोचरतादृशब्रह्मभेदाभावेऽपि ब्रह्मणः प्रपञ्चाधीन सत्ता-कत्वाभावेन प्रपञ्चतादात्म्याभावात् तादात्म्यसम्बन्धावाच्छिन्न-प्रपञ्चप्रतियोगिकभेदोब्रह्मणि स्यादिति कथं सर्वथा निषेधबाधोद्धार इति चेन्न । ब्रह्मणि प्रपञ्चभेदस्य शुद्धस्यापीष्टत्वात् प्रपंचे ब्रह्मभेद एव निषेधगोचरोऽनर्थावहश्च नतु ब्रह्मणि प्रपञ्चभेदः, अतएव शास्त्रेषु प्रपञ्चभेदः, ''अव्यक्तात्पुरुष परः'' तमसः परस्तात् ''अधिकंतु भेदनिर्देशात्'' इत्यादौ प्रतिपाद्यते एव न तु निषिद्ध्यते इति ।

कहें कि चिदचित्प्रपञ्चको ब्रह्माधीनसत्ताकत्वरूपब्रह्मतादात्म्य होने से प्रपञ्च में तादात्म्यघटितब्रह्मप्रतियोगिकाभावरूप निषेधविषयभेद नहीं रहने पर भी ब्रह्म मे प्रपञ्चसत्ताधीनसत्ताकत्वरूप प्रपञ्चतादात्म्य नहीं होने से प्रपञ्चप्रतियोगिक तादात्म्यघटितभेद ब्रह्म में तो रहेगा ही तब सर्वथा भेदनिषेधबाधोद्धार कैसे ? उत्तर-प्रपञ्च में ब्रह्मप्रतियोगिकभेद बुद्धि ही श्रुतिनिषेध्य है अनर्थावह भी है, ब्रह्म में प्रपञ्चभेदबुद्धि न तो श्रुतिनिषेद्ध्य है न अनर्थावह है । अतएव ब्रह्मनिष्ठप्रपञ्चप्रतियोगिकमुख्य (तादात्म्यघटित) भेद भी इष्ट ही है । अतएव ब्रह्म में प्रपञ्चभेद (अव्यक्ता-त्पुरुषः परः) (कठवल्ली) अव्यक्त से पुरुष पर हैं, (तमसः परस्तात्) उत्तरनारायण) तमस नाम प्रधान की मूलावस्था उससे भी पुरुष पर है । (अधिकं तु भेदनिर्देशात् वे. सू.) ब्रह्म जगत् से अधिक हैं । इत्यादिश्रुति-

सूत्र द्वारा प्रतिपादित ही है निषिद्ध नहीं ।

(६)

यद्वा तादात्म्यघटकीभूतेनात्मपदेन स्वरूपमात्रं विवक्षितम्, एवं च ब्रह्मणि एव प्रपञ्चरूपेणापि चिदचिच्छक्त्यात्मनावस्थितत्वाद्ब्रह्मणः स्वरूपविशेष एव चिदचित्प्रपञ्चः । तथा च प्रपञ्चे ब्रह्मतादात्म्यवद् ब्रह्मण्यपि प्रपञ्चतादात्म्यं निर्वाधमेवेति न काप्यनुपपत्तिः। एवं ब्रह्मतद्धर्मकृतभेदेऽपि तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं परिहरणीयम् । निरुक्तविशेषताख्यो भेदस्तु, इष्ट एव। प्रपञ्चे परस्परं तु ब्रह्मात्मकत्वेनैकात्म्यादभेदः, एतभिप्रायेणैव जीवानामपि वामदेवादीनां ब्रह्मात्मकत्वज्ञानोदये- ''तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहम् मनुरभवं सूर्यश्च'' इत्यादि सर्वात्मत्वानुभव इति । चित्त्वादिना तु तादात्म्य घटितोऽपि भेदः, स च न निषेधगोचरः, निषेधकवाक्याभावात् भेदसाधकस्य 'तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः' 'अपरेय मितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्'' इत्यादि वाक्यसद्भावाच्च। वस्तुतस्तु निरुक्तविशेषतारूपभेदबलादेव जडजीवादिष्वपि भेदव्यवहारः। तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलक्षणस्य भेदस्य तु स्वमते सर्वथैवाभाव इत्यग्रे तृतीयेंऽशे विवेचयिष्ये इति तत्रैवावधेयम्।

अथवा तादात्म्यघटकीभूत आत्मपद से स्वरूपमात्र विवक्षित है। एवंच-ब्रह्म ही चिदचिच्छक्त्यात्मना प्रपञ्चरूप से भी अवस्थित है । इसलिये प्रपञ्च भी ब्रह्म का ही स्वरूप है जैसा अहिका स्वरूपविशेष कुण्डल। अतः चिदचित्प्रपञ्च का ब्रह्म में तादात्म्य है ही तथाच ब्रह्म में प्रपञ्चतादा-त्म्याभावप्रयुक्त तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रपञ्चभेद नहीं रहता है । निरुक्त-विशेषतारूपभेद तो ब्रह्म में प्रपञ्च का प्रपञ्च में ब्रह्म का इष्ट ही है और वह निषेधगोचर भी नहीं है यह बता ही चुका हूं । चिदचित्प्रपञ्च में परस्पर भी ब्रह्मात्मकत्वेन तादात्म्य होने से अभेद है । इसी अभिप्राय से जीव को भी वामदेवादिको सर्वब्रह्मात्मत्वज्ञान होने पर मैं मनु हुआ,

सूर्य हुआ इत्यादि सर्वात्मकत्वबुद्धि सुनी जाती है । चित्व-अचित्त्व आदि रूप से तो तादात्म्यघटित भी भेद है और वह श्रुतिनिषेध का विषय भी नहीं है अपितु श्रुतिविधेय ही है । ''प्रकृतिप्राकृत से विलक्षण उसका साक्षी चिन्मात्र सदैव कल्याणरूप अस्मत्पदार्थ है ।'' अपराप्रकृति से अन्य पराप्रकृतिरूपजीव है'' इत्यादिशास्त्रविद्यमान है । (वस्तुतस्तु) पूर्वोक्त-विशेषतारूप भेद से ही जडजीवादि में भी भेदव्यवहार होता है तादात्म्य-विरोधी अन्योन्याभावरूपभेद का तो स्वसिद्धान्त में सर्वथा अभाव ही है यह मैं तृतीय अंश में विचारूंगा वहीं देखना ॥६॥

(७)

तथा च भेदाभेदघटकः भेदपदार्थः, नैयायिकाद्युक्ततादात्म्यघटितभेदविलक्षणः=तत्तद्वस्तुतादात्म्यसत्त्वेऽपि स्वरूपतः कार्य्यतश्च तद्वस्तुगतवैलक्षण्यानुभूतिनिर्व्वाहकः स्वतोव्यावृत्तः तत्तद्वस्तुगतविशेषतारूपो नित्यो भगवदिच्छाशक्त्यभिव्यङ्ग्यः तत्तद्वस्तुस्वरूपभूतो भगवच्छक्त्यन्तरभूतो वा भावरूपो धर्मविशेष एव। अत्र निर्वाहकान्तं कार्यलक्षणम् विशेषतामात्रं स्वरूपलक्षणम् अन्यद्विशेषणं परिचायकमात्रमित्यस्माकं प्रतिभाति । अभेदस्तु तादृशभेदाविरोधिनिरुक्ततादात्म्यमेवेत्यनुसंधेयम् । एतादृशभेदाभेदमादायैव दशश्लोक्यामाद्याचार्य्यैरप्युक्तम् ''सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः। ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं त्रिरूपताऽपि श्रुतिसूत्र साधिता'' इति।

तथाच भेदाभेदघटक भेदपदार्थनैयायिकाद्युक्तभेद से विलक्षण तत्तद्वस्तु का तादात्म्य रहते हुए भी स्वरूपतः कार्य्यतः तत्तद्वस्तुगतवैलक्षण्यानु भूतिनिर्वाहक स्वतोव्यावृत्त तत्तद्वस्तुगतविशेषतारूप भगवदिच्छाशक्त्यभिव्यङ्ग्य तत्तद्वस्तुस्वरूपभूत अथवा भगवान् का शक्तिविशेषभूत भावात्मा धर्मविशेषरूप ही है यह स्मरण रखना । इसमें निर्वाहकत्वपर्यन्तभेद का कार्य्य लक्षण है । विशेषतामात्र स्वरूपलक्षण है । शेष परिचायकमात्र है । एतादृशभेदाभेद का अभिप्राय ही आद्याचार्य्य-(श्रीनिम्बार्काचार्य

ने वेदान्तकामधेनु में सब वस्तु को ब्रह्मात्मकत्व के साथ चिदचिदीश्वर भेद से त्रिरूपत्व भी बताए हैं ॥७॥

(८)

अथ तत्त्वत्रयस्य पारमार्थिकत्वे ब्रह्ममात्रस्य सत्यत्वाभिधानं बाधितं स्यात्, श्रूयते च ब्रह्ममात्रस्य सत्यत्वं ''मृत्तिकेत्येव सत्यम्'' इति दृष्टान्तमुखेनेतिचेन्न ''यदिदं किं च तत्सत्यभित्याचक्षते'' इति स्वशब्देन सर्वस्य जगतः सत्यत्वकथनात् 'पुरुष एवेदं सर्वम्' ''सदेवसौम्येदमग्रआसीत्'' ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'' इत्यादौ कथितब्रह्मात्मकत्वान्यथानुपपत्तेः ''कथमसतः सज्जायेत, सदेव सौम्येदमग्रआसीत्'' इत्यत्र साग्रहं सत्त्वकथनात् कारणस्य ब्रह्मणोऽसत्त्वप्रत्याख्यानेन सत्यत्वसाधनाय कार्य्यस्य जगतः सत्त्वस्य हेतुकरणाच्च जगतः सत्यत्वस्यापिश्रुतिसिद्धत्वात् । नहि ब्रह्मनिष्ठसत्वे हेतुकृतं जगन्निष्ठसत्यत्वमपारमार्थिकं भवितुमर्हति तथासति साध्यस्य ब्रह्मनिष्ठसत्त्वस्यापारमार्थिकत्वापत्तेः । नह्यपारमार्थिकेन धूमेन हेतुना पारमार्थिकं वह्निं परं प्रति साधयितुं शक्यमिति । अतएव च गीताशास्त्रे--'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्' इति जगन्मिथ्यात्वसिद्धान्तस्यासुरत्वमुक्तम् । सूत्रकारोपि-''प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'' ''आत्मकृतेः परिणामात्'' इत्यादिना ब्रह्मपरिणामं वदन् सत्यत्वमेव व्यवस्थापयति । तस्मान्नस्वरूपतो जगन्मिथ्या । किन्तु किञ्चिद्धर्मतः । सच धर्मो ब्रह्मानात्मकत्वमेव। एवंच ब्रह्मात्मकत्वेन सत्यत्वं ब्रह्मप्रतियोगिकनिरुक्ततादात्म्यघटितभेदवत्त्वलक्षण-ब्रह्मानात्मकत्वेन मिथ्यात्वमिति विषयव्यवस्थाया उभयश्रुतिविरोधपरिहार इति ।

यहां पुनः आशङ्का की जाती है कि चित् अचित् ईश्वर इन तीनों तत्त्वों को परमसत्य मानने पर ब्रह्ममात्र को सत्य बताने वाली श्रुति बाधित हो जाती है । अतः श्रुत्यनुरोधात् तीनों को सत्य नहीं मान सकते ? उत्तर-जिस प्रकार ''मृत्तिकेत्येव सत्यम्'' इत्यादि श्रुति का कारणमात्रसत्यत्व-

बोधन में तात्पर्य की संभावना की जा सकती है । उसी प्रकार ''यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते'' यहां पर स्वशब्देनः सर्वपदार्थ जगत् को सत्य कहा है । इसी प्रकार ''पुरुषएवेदंसर्वम्'' वस्तु को ब्रह्मात्मकत्व बताया है तथा 'सदेवसोम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुति में प्रपञ्च को ब्रह्मरूपत्व बताया है तथा ''ऐतदात्म्यमिदंसर्वम्'' इस श्रुति में भी जगत् को ब्रह्मात्मकत्व बताया गया है । यह सब जगत् को मिथ्यात्व होने से कभी भी संगत नहीं हो सकता है । मिथ्यात्व वस्तु ब्रह्मरूप कैसे हो सकता है। इसी प्रकार ''मृत्तिकेत्येवसत्यम्'' इसी प्रकरण में 'कथमसतः सज्जायेत सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' इस अंश से साग्रह जगत को सत्य कहा गया है । कारण को असत्त्वनिषेधेन-सत्त्व व्यवस्थापनार्थ कार्य जगत् में सत्त्व को हेतु किया गया है । इस परिस्थिति में जगत् को पारमार्थिकसत् नहीं मानें तो ब्रह्म में भी उस हेतु से पारमार्थिकसत्त्वसिद्धि नहीं हो सकेगी, तथा प्रतिपक्षी के प्रति कारण में पारमार्थिकसत्त्वसिद्धि के लिये जगन्निष्ठ अपारमार्थिकसत्त्वरूपहेतु का उपन्यास भी संगत नहीं माना जा सकता है। यथा-पारमार्थिकवह्निसिद्धि के लिये अपारमार्थिकधूम इत्यादि । इसी लिये गीता में भी ''असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्'' इस वाक्य द्वारा जगन्मिथ्यात्वसिद्धान्त को आसुरसिद्धान्त कहे हैं । सूत्रकार ने भी प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ३।४ आत्मप्रकृतेःपरिणामात् ३।४ इत्यादि सूत्र द्वारा जगत् को ब्रह्मपरिणाम ही कहा है अध्यास नहीं । इसलिये जगत् स्वरूपतः मिथ्या नहीं है अपितु किञ्चिद्धर्मतः, वह धर्म ब्रह्मानात्मकत्व ही है । इसलिये ब्रह्मात्मकत्वेन जगत् सत्य है । ब्रह्मानात्मकत्वेन मिथ्या है । इस प्रकार विषयव्यवस्था से सत्यत्वबोधक मिथ्यात्वबोधक दोनों श्रुतियों का विरोधपरिहार युक्त है ॥८॥

(९)

अत्रैवं बोध्यम्--यथा ''शिखी नष्टः'' इत्यादौ विशेषणां-शस्य शिखामात्रस्य नष्टत्वेऽपि विशिष्टे नष्टत्वव्यवहारः तथा लौकिकबुद्ध्यारोपितस्य जगन्निष्ठब्रह्मानात्मकत्वमात्रस्य मिथ्या-

त्वेऽपि विशिष्टे मिथ्यात्वव्यवहारः । यथा च पुरुषसत्त्वेऽपि शिखा-भावे-'अत्र शिखावान्पुरुषः, इति बुद्धेर्भ्रमत्वम्, 'अत्र शिखावान् पुरुषो नास्ति, इत्युत्तरबुद्धिबाध्यत्वं च ।' तथा जगतः स्वरूपतो ब्रह्मात्मकत्वेन च सत्यत्वेऽपिब्रह्मानात्मकत्वरूपविशेषणांशमादाय जगत्प्रतीतेः भ्रमत्वं ब्रह्मात्मकत्वज्ञानबाध्यत्वं चेति । न च ''जगन्मिथ्या'' इत्यादौ 'शिखी नष्ट' इत्यादाविव विशेषणांशस्य ब्रह्मानात्मकत्वस्यानुल्लेखात् तत्र तथा तात्पर्यकल्पने प्रमाणाभाव इति वाच्यम् । तादृशानु-पूर्वीकप्रसिद्धश्रुत्यभावात्, सत्त्वेच्च तत्र लौकिकप्रमाणसिद्ध-जगत्तत्त्वमनूद्यैव मिथ्यात्वं बोध्यते लौकिक-प्रमाणसिद्धं च साङ्ख्य-नैयायिकाद्युक्तरीत्या ब्रह्मानात्मकतयैव जगत्, ब्रह्मानात्मकत्वंतु ब्रह्मानुपादेयसत्ताश्रयत्वमेवइतितत्रैव-मिथ्यात्वं बोध्यते नतु ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' ''कथमसतः सज्जायेत'' ''तदैक्षत एकोहं बहुस्यां प्रजायेय'' ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतिसिद्धब्रह्मात्मके जगति । ''वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'' इत्यादौ तु कारणीभूतब्रह्माभिन्नत्वेनैव जगतो मिथ्यात्वमुच्यते शुक्तिरजतादि दृष्टान्तमनुक्त्वा मृत्तिकाया दृष्टान्तकरणात्तथैवावगतेः, तच्च ''त्रीणिरूपाणीत्येव सत्य'' मित्यत्र स्फुटम् । ''तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'' ''सत्त्वाच्चावरस्य'' 'पटवच्च' 'युक्तेः शब्दान्तराच्च', 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' इत्यादि सूत्राणामपि तथैवाशय इति । विवेचितं मया वेदान्त-तत्त्वसमीक्षायां ''गोपीजनवल्लभविज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भवति'' इत्यस्य विवेचनायामिति तत्रैवावधेयं विशेषजिज्ञासुभिरिति ।

यहां पर यह समझना कि यथा ''शिखी नष्टः'' इत्यादि स्थल में विशेषणांश शिखामात्र का नाश रहने पर पुरुष को विद्यमान रहने पर भी विशिष्ट में नष्टत्वव्यवहार होता है। तथा-लौकिकबुद्धि से आरोपित जग-न्निष्ठब्रह्मानात्मकत्वमात्र को मिथ्यात्व होने पर भी ब्रह्मानात्मकत्वविशिष्ट

जगत् में मिथ्यात्वव्यवहार लौकिकवाक्यद्वारा तथा श्रुतिद्वारा हो सकता है । एवं पुरुष रहने पर भी शिखा का अभाव दशा में शिखी पुरुषः, यह बुद्धि भ्रम कहलाती है। तथा-''शिखावान् नास्ति'' इस उत्तरकालीन बुद्धि से बाध्य भी होता है तथा स्वरूपतः ब्रह्मात्मतया च जगत् को सत्यत्व होने पर भी ब्रह्मानात्मकत्वविशेषणांश लेकर जगत् प्रतीति को भ्रमत्व और ब्रह्मात्मकत्वरूप उत्तरज्ञानबाध्यत्व भी हो सकता है । कहें कि ''जगन्मिथ्या'' इत्यादि प्रतीति में, ''शिखी नष्टः'' इत्यादि प्रतीति में शिखारूपविशेषण जैसा विशेषणांश ब्रह्मानात्मकत्व को अभिलक्ष्यकर मिथ्यात्वबोधन हो रहा है । इसका कैसे निश्चय कर सकते हैं ? जगत्पद से ब्रह्मानात्मकत्वविशिष्ट जगत् में ही मिथ्यात्वविधायकवाक्य का तात्पर्य है इस कल्पना में भी कोई प्रमाण नहीं । उत्तर--''जगन्मिथ्या'' इसमें समानार्थकश्रुति भी तो नहीं हैं । यदि कहीं हो भी तो वहां पर लौकिक-प्रमाणप्रसिद्धजगत् का अनुवाद करके ही मिथ्यात्वबोधन होरहा है । यह तो मानना ही होगा । लौकिकप्रमाणसिद्धजगत् तो सांख्यन्यायाद्युक्तरीत्या ब्रह्मानात्मकत्वविशिष्ट ही जगत् है । इसलिये ब्रह्मानात्मकत्वविशिष्ट जगत् में ही मिथ्यात्वबोधन हो रहा है । न कि ''सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'' कथमसतः सज्जायेत सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत् ''तदैक्षत एकोऽहंबहुस्यां प्रजायेय'' ''यदिदं किंच तत्सत्यमित्याचक्षते'' इत्यादि श्रुतिसिद्ध जगत् में मिथ्यात्वबोधन होता है । ''मृत्तिकेत्येव सत्यम्'' इस श्रुति से भी ब्रह्मभिन्नत्वेनैव जगत् का मिथ्यात्वबोधन होता है । स्वरूपतः नहीं । शुक्तिरजतादि दृष्टान्तप्रणयन नहीं कर मृत्पिण्डादि दृष्टान्त का यही तात्पर्य प्रतीत होता है । यह ''त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्'' यहां पर स्पष्ट हो जाता है । तदनन्यत्व २।१।१४, २।१।१५, २।१।१६, २।१।१७, २।१।१८, २।१।१९, २।१।२०, २।२।१८, २।२।२९, इत्यादि सूत्रों का भी यही अभिप्राय प्रतीत होता है । इस विषय का वेदान्ततत्त्वसमीक्षा में ''गोपीजनवल्लभविज्ञानेनाखिलं ज्ञातं भवति'' इसकी विवेचना में विचार किया है इसलिये इसका विचारविशेष वहीं से जानना ॥९॥

(१०)

इदं पुनरिहावधेयम् । केवलज्ञानमार्गेण कैवल्याख्यस्वरूप-लाभमात्रमुक्तिपथिकानां भगवति जगत्कर्तृत्वादिधर्मचिन्तने प्रयो-जनाभावाज्जगत्स्वरूपस्फुरणस्य ब्रह्मस्वरूपैकनिष्ठताविघात-कत्वेनान्तरायरूपत्वाच्च जगति मिथ्यात्वमात्रमुपदिश्यते क्वचित्क्व-चित्तथाविधनिष्ठास्तुति प्रसंगेषु । भक्तिमार्गेतु ब्रह्मात्मकतया जग-त्सत्यत्वज्ञाने जगत्कर्तृत्वद्वारेण भगवति माहात्म्यातिशयबोधात् तस्य च भक्तिपोषकत्वात्, ब्रह्मानात्मकत्वेन जगत्सत्यत्वज्ञानस्यैव बन्धकत्वाच्च ब्रह्मानात्मकत्वेनमिथ्यात्वं ब्रह्मात्मकत्वेन सत्यत्वं चोभयमप्युपदिश्यते तत्प्रसङ्गेषु । ब्रह्मात्मकत्वेन सत्यत्वं तु विशेषणांशस्य ब्रह्मात्मकत्वस्य विशेष्यांशस्य चोभयस्यसत्य-त्वादुभयथोपपद्यते । मिथ्यात्वं तु विशेष्यांशस्य जगत्त्वस्य सत्य-त्वेऽपि विशेषणांशस्य जगन्निष्ठतयाप्रतीयमानस्य ब्रह्मानात्मकत्वस्य स्वतन्त्रसत्तारूपस्य मिथ्यात्वादुपपद्यते इत्युक्तम् ।

यहां पर यह जानना चाहिये कि केवलज्ञान मार्ग के द्वारा कैवल्य-रूपस्वरूपलाभमात्र-मुक्तिपथिकों को ब्रह्म में जगत्कर्तृत्वादि धर्मचिन्तन का प्रयोजन नहीं होने से तथा जगत्स्फुरण को ब्रह्मस्वरूपमात्रनिष्ठता विघात द्वारा विघ्नरूप होने से जगत् में उन लोगों के लिये मिथ्यात्वमात्र का उपदेश करते हैं कहीं कहीं पर केवल कैवल्यनिष्ठाप्रसंग में--०। भक्तिमार्ग में तो जगत्सत्यत्वज्ञान होने से जगत्कर्तृत्वज्ञानद्वारा ब्रह्म में माहात्म्यातिशयज्ञान होता है । माहात्म्यज्ञान भक्तिपोषक है ब्रह्मानात्म-कत्वेन जगत्सत्यत्वज्ञान ही बन्धन हेतु है इसलिये उन उन प्रसङ्गों में जगत् में ब्रह्मात्मकत्वेन सत्यत्व ब्रह्मानात्मकत्वेन मिथ्यात्व दोनों का उपदेश करते हैं । ब्रह्मात्मकत्वेन सत्यत्व तो विशेषणांश ब्रह्मात्मकत्व विशेष्यांश जगत् दोनों को सत्यत्व होने से उपपन्न है । मिथ्यात्व विशेष्यांश जगत् को सत्यत्व होने पर भी विशेषणांश प्रतीयमान ब्रह्मानात्मकत्वरूप स्वतन्त्र सत्ताश्रयत्व को मिथ्यात्व होने से उपपन्न है यह पहले बता आया हूं ।

(११)

नन्वेवं सति तत्त्वत्रयस्वीकारे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञान-प्रतिज्ञानुपपत्तिरितिचेत् न ब्रह्मात्मकतत्त्वत्रयस्वीकार एव एतादृश-सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानिर्व्वाहसंभवः । केवलाद्वैतवादेषु सर्वपदार्था-भावात्तदसम्भव एव । नहि सर्वविषयकमिथ्यात्वज्ञानस्य सर्वविज्ञानत्वं वक्तुं शक्यते इति । ब्रह्मात्मकतत्त्वत्रयस्वीकारेतु चिदादितत्त्वानां ब्रह्मशक्तित्वाद्ब्रह्मापृथक् सिद्धत्वेन ब्रह्मण्येव वह्न्यौष्ण्यादिवन्निक्षिप्तत्वात्पूर्णब्रह्मज्ञानेअग्निजलादीनां तत्त्वतोज्ञाने तत्तद्गुणशक्त्यादिवत् चिदादितत्त्वानामपि ज्ञानं भवत्येवेति न तदर्थं व्यापान्तरापेक्षा । यथा (१) 'भक्तियोगेन मनसि सम्यक्प्रणिहिते-ऽमले, अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयाम्' इति प्रथमस्कन्धे भगवतो व्यासस्य पूर्णब्रह्मज्ञानेनैव मायाया अपि विषयीकरणमिति। सर्वज्ञानार्थं ब्रह्मज्ञानं पूर्णतमब्रह्मज्ञानमेव विवक्षितं नतु अंशतः, पूर्णतमब्रह्मज्ञानंतु स्वरूपतः स्वरूपानुबन्धिगुणशक्त्यादितश्च पूर्णस्यैव ब्रह्मज्ञानम् तत्र जडजीवादि सकलमेव जगन्निक्षिप्तं भवति न किमप्यज्ञातमवशिष्यते इति । अतएव गीतायां सप्तमाध्याये ''असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु'' इति समग्रविशेषणेन पूर्णतमस्वज्ञानंप्रतिज्ञाय ''भूमिरापोऽनलोवायुरि''त्यादिना प्राकृताप्राकृतानांसर्वेषामेव जडजीवादीनां स्वप्रकृतितया स्वस्यैव रूपान्तरत्वं स्वापृथक्सिद्धत्वादिकंचोपदिशति । अतएव छान्दोग्य-मुण्डकादावपि च सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय प्रपञ्चस्य ब्रह्मत उत्पत्ति-स्थितिप्रलयादिना ब्रह्मात्मकत्वमेवोपदिशति नतु मिथ्यात्वमिति। तस्मान्न तत्त्वत्रयस्वीकारे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाबाधः तदेतद्विस्तरेण मयोपपादितं वेदान्ततत्त्वसमीक्षायां तापिनीभाष्ये-''गोपीजनवल्लभविज्ञानेनाखिलं विज्ञातंभवतीति तत एवावधेयम् सुधीभिरित्युपरम्यते ।

प्रश्न--इस प्रकार से भी तत्त्वत्रय स्वीकार करने पर एक विज्ञान

से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा का बाध होता ही है ? उत्तर नहीं ब्रह्मात्मक तत्त्वत्रयस्वीकार करने पर ही एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञानिर्व्वाह सम्भव है । केवलाद्वैतवाद में तो सर्वपदार्थ का ही एक विज्ञान से लोप हो जाता है । तब सर्व विज्ञान किस प्रकार हो सकता है । इसलिये केवलाद्वैतवाद में एक विज्ञान से सर्वविज्ञान वस्तुतः नहीं होता है । ब्रह्मातिरिक्त-सर्वविषयकमिथ्यात्व ज्ञान को सर्वविज्ञान भी नहीं सकते हैं । ब्रह्मात्मकतत्त्वत्रयस्वीकारपक्ष में चिदचिदादितत्त्व को ब्रह्मशक्तिरूपतया ब्रह्माऽपृथक्सिद्धहोने से वह्नि में औष्ण्यादिवत् ब्रह्मस्वरूपघटकत्वात् पूर्णब्रह्म-ज्ञान होने पर चिदादितत्त्व भी ज्ञात हो जाता है । यथा पूर्णतः अग्निजलादि-ज्ञान होने पर तद्वत्औष्ण्यमाधुर्य्यादि का ज्ञान हो ही जाता है । इसलिये ब्रह्मज्ञान होने पर चिदादितत्त्व का ज्ञान के लिये व्यापारान्तर की अपेक्षा नहीं रहती । यथा-(१) भागवतप्रथमस्थन्ध में-भगवान् व्यास को भक्ति-योग के द्वारा मनः प्रणिधान करने पर पूर्णब्रह्मज्ञान से ही माया भी विषयीकृत हो गई । न कि माया ज्ञान के लिये पृथक् प्रयत्न करना पड़ा है । सार्वज्ञार्थ-पूर्ण ब्रह्मज्ञान ही अपेक्षित है न कि अंशतः ब्रह्मज्ञान । पूर्ण ब्रह्मज्ञान तो स्वरूपतः स्वरूपानुबन्धिगुणशक्त्यादितश्च पूर्ण ब्रह्मज्ञान ही है नतु केवल ब्रह्मज्ञान । इसलिये पूर्ण ब्रह्मज्ञान में ब्रह्मशक्तिभूत चेतनाचेतनात्म-निखिलप्रपञ्च निक्षिप्त हो जाता है ? कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है । इसीलिये गीता सप्तम अध्याय में-समग्र ब्रह्मस्वरूप के ज्ञान की प्रतिज्ञाकर तदुपयोगितया भूम्यादि अष्टप्रकृति का तथा जीव का भी निरूपण करते हैं । छान्दोग्यमुण्डकादि उपनिषत् में भी एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा कर मृत्पिण्डउर्णनाभि तन्तु आदि दृष्टान्त-सहित-जगत् का ब्रह्म से उत्पत्तिलयादि बताते हैं--न कि शुक्तिरजतादि दृष्टान्त द्वारा मिथ्यात्व। तस्मात् तत्त्वत्रय स्वीकार पक्ष में एक विज्ञान से सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा का बाध नहीं होता है । इस वस्तु को विस्तारं पूर्वक मैंने वेदान्ततत्त्व समीक्षा में गोपीजनवल्लभपद व्याख्यान समय में विवेचन किया है । इसलिए वहीं पर देखना चाहिए ।

१२)

सोऽयंभेदाभेदसिद्धान्तः सर्वेषां वैष्णवाचार्य्याणामिष्टतमः प्रकारान्तरेण स्वस्वसिद्धान्तस्य नामकरणेऽपि सिद्धान्ततो भेदाभेद-सिद्धान्तस्य सर्वैरेवाचार्यैरहिकुण्डलाधिकरणे स्वीकृतत्वात् । तदेतद्ग्रन्थशेषे विस्पष्टं दर्शयिष्ये इति ।

इति श्रीमैथिलझोपाख्यभगीरथशर्मविरचते द्वैताद्वैतविवेके द्वितीयोंऽशः ।

यह भेद्राभेदसिद्धान्त--सब वैष्णवाचार्य्य को इष्ट है । प्रकारान्तर से स्वस्वसिद्धान्त का नामकरण करने पर भी सिद्धान्ततः भेदाभेद को अहिकुण्डलाधिकरण में सबने स्वीकार किया है । यह मैं ग्रन्थ शेष में स्पष्ट दिखाऊंगा ।

इतिश्रीमैथिलझोपाख्यभगीरथशर्मविरचते-

द्वैताद्वैतविवेकस्य भावानुवादे द्वितीयोंऽशः ।

अथ तृतीयोंऽशः

जयति जयति राधाकृष्णयुग्मं वरिष्ठं व्रतसुकृतनिदानं यत्सदैतिह्यमूलम् ।
विरलसुजनगम्यं सच्चिदानन्दरूपं व्रजवलयविहारं नित्यवृन्दावनस्थम् ।।

(१)

इदन्त्विहावधेयम् । ''सलिल एकोद्रष्टाऽद्वैत'' बृ. आ. ४। ''एकमेवाद्वितीयम्'' छा. अ. ६। ''न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते'' श्वे. उ. ६। इत्यादिश्रुतिभ्यः--एकमेव स्वसमानाभ्यधिकशून्यं ब्रह्माख्यं वस्तु । तच्च--''पूर्णमदः पूर्णमिदमितिश्रुतेः परिपूर्णमेव । परिपूर्णता चास्य स्वरूपतोगुणशक्त्यादिभिश्च बोध्या। ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' तै. ब्र.। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, श्वे. उ. ६ इत्यादिश्रुतेः । गुणशक्त्याद्यपि नागन्तुकमाविद्यकं वाऽपितु स्वरूपवन्नित्यसिद्धमेवाविनाभूतम्' अग्निजलादौ औष्ण्यशौक्ल्यादिवत् । ''पराऽस्यशक्तिर्विविधैवश्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'' इति श्वेताश्वतरश्रुतौ स्वाभाविकत्वकथनात् ।

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ।।
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता ।

प्र. अ. तृ. अ. २-३

इति विष्णुपुराणे तदुपबृंहकपराशरवाक्ये-वह्न्यौष्ण्यदृष्टान्तप्रणयनाच्च । तस्मात्स्वतोभिन्नाभिन्नस्वभावानन्तगुणशक्तिस्वभावमेकमेव परिपूर्णमद्वितीयं ब्रह्म । तस्य स्वरूपाविनाभूताः सर्वे गुणादय शक्तिशब्देन व्यवह्रियन्ते । ताश्च ब्रह्मशक्तयः स्वरूपतः कार्य्यतश्चानन्ता अपि सामान्यतो द्विविधा । चिदचिद्भेदात् । तदेवं परिपूर्णतममेकमपि परब्रह्माख्यं वस्तु स्वरूपशक्तिभेदात् त्रिविधमिति चिदचिदीश्वरभेदेन पदार्थस्त्रिविधः ।

जन्मना न्यायशास्त्रज्ञं, वेदान्ताद्वैतपण्डितम् ।
द्वैताद्वैतप्रियं किन्तु गुरुं वन्दे भगीरथम् ॥

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ''सलिल एकोद्रष्टाऽद्वैत (बृ.आ. ४)'' वह परमात्मा एक द्रष्टा है, अद्वैत है, ''एकमेवाद्वितीयम्'' (छा.उ.अ.६) ''वह परमात्मा एक है, अद्वितीय है'' ''न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते'' (श्वे.उ.६) ''उसके समान कोई नहीं, ना ही उससे बढकर कोई है'' इत्यादि श्रुतियों द्वारा अपनी समानता एवं उत्कृष्टता से रहित ब्रह्मनामक वस्तु एक ही है और ''पूर्णमदः पूर्णमिदम्'' इस श्रुति द्वारा परिपूर्ण है । पूर्णता उसमें स्वरूप से, गुणों से एवं शक्ति आदि से समझनी चाहिए अर्थात् वह परमात्मा स्वरूप से, गुणों से एवं शक्तियों से भी परिपूर्ण है । इसमें प्रमाण है ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै.ब्र.) तथा ''पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च'' इत्यादि । परमात्मा में गुण, शक्ति न आविद्यिक ना ही आगन्तुक है किंवा (औपाधिक) किन्तु स्वरूप की तरह नित्य सिद्ध अविनाभूत वस्तु है । जिस तरह अग्नि तथा जल में उष्णता एवं शौक्ल्य आदि । कारण ''परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते--स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च'' इस श्वेताश्वेतर श्रुति में ब्रह्म में गुण शक्ति आदि को स्वाभाविक कहा गया है । जैसा कि विष्णु पुराण में कहा गया है--

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्याभावशक्तयः ॥
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता ॥
(प्र. अ. तृ. अ. २-३)

विष्णु पुराण के इस वचन में वह्नि में औष्ण्य की तरह ब्रह्म में गुण शक्ति आदि को स्वाभाविक रूप में रहने की बात कही गई है । इसलिये स्वतः भिन्नाभिन्न स्वभाव अनन्त गुणशक्तिसम्पन्न एक ही परिपूर्णतम ब्रह्म है । उस ब्रह्म के अविनाभूत समस्त गुण आदि शक्ति शब्द में व्यवहृत

होते हैं । वे ब्रह्म की शक्तियाँ यद्यपि स्वरूपतः तथा कार्यतः अनन्त हैं, फिर भी सामान्यतया दो तरह की हैं । दो हैं-चित् एवं अचित् । इस प्रकार चित्, अचित्, ईश्वर भेद से तीन पदार्थ मान्य है ॥१॥

(२)

इदमत्र बोध्यम् चिदचिदीश्वरभेदेन पदार्थस्त्रिविधः तत्र स्वरूपतः सच्चिदानन्दरूपा अणुपरिमाणा धर्मतो विभुज्ञानमया भगवदात्मका भगवच्छक्तिविशेषभूता अनन्ता जीवा एव चित्पदार्थः । अचित्तत्त्वं तु प्राकृतकालाप्राकृतसत्त्वभेदेन त्रिविधम् । तत्र सत्त्वरजस्तमःस्वभावं कालकर्मतन्त्रविविधपरिणामस्वभावं प्रधानमेव स्वरूपतो गुणतश्च जड़म् प्राकृतपदार्थः । तदपि जीववत् भगवत्सत्ताधीनसत्ताकभगवच्छक्तिविशेषभूतमेव नतु सांख्यानामिव स्वतंत्रम् ।

यहाँ स्वरूपतः सच्चिदानन्दस्वरूप, अणुपरिमाण वाले, धर्म से विभुज्ञानमय भगवदात्मक तथा भगवान् के शक्ति विशेष स्वरूप अनन्त जीव ही चित् पदार्थ है । अचित् तत्त्व-प्राकृत, अप्राकृत तथा काल भेद से तीन तरह के होते हैं । इनमें सत्त्व, रजस्, तमः स्वरूप, काल, कर्म, तन्त्र आदि विविध रूप में परिणाम स्वभाव वाला प्रधान (प्रकृति) ही स्वरूपतः एवं गुणतः जड़ स्वभाव प्राकृत पदार्थ कहलाता है । वह भी जीव की तरह भगवत् अधीन प्रवृत्ति निमित्त स्वभाव, भगवत् सत्ताधीन सत्ता वाला भगवान् का शक्ति विशेष ही मान्य है-सांख्य दर्शन की तरह स्वतन्त्र नहीं ॥२॥

(३)

कालस्तु निरूपितप्राकृतनिरूपयिष्यमाणाप्राकृतोभय-विलक्षण अखण्डः नित्यः एकः सूर्य्यपरिस्पन्दोपाधिभेदात् त्रुटि-लवादिव्यवहारप्रयोजकः प्राकृत नियामकः भगवन्नियम्यः भगव-च्छक्तिविशेषभूतः भगवदात्मकःपदार्थ-विशेषः ।

काल तो निरूपित प्राकृत (वर्तमान) निरूपयिष्यमाण (भवि-

ष्यति) प्राकृत अप्राकृत उभय तत्त्व से विलक्षण अखण्ड, नित्य तथा एक है, परन्तु सूर्य की क्रिया रूप उपाधि के भेद से त्रुटि, लव-मुहूर्त आदि व्यवहारों का नियामक परन्तु भगवान् द्वारा नियम्य, भगवान् का शक्ति विशेष स्वरूप-भगवदात्मक (ब्रह्मात्मक) पदार्थ विशेष है ॥३॥

(४)

अप्राकृतं तु--प्राकृतकालाभ्यां विलक्षणम् अचिद्वस्तु तस्य स्वरूपलक्षणं तु स्वरूपतः सच्चिदानन्दरूपत्वे सति धर्मतश्चै-तन्यच्छून्यत्वम् । तथाच स्वरूपतः जीवतत्त्वेश्वरतत्त्ववत्सत्य-ज्ञानानन्दरूपत्वेऽपि जीवेश्वरवत् धर्मभूतज्ञानस्य तत्राभावमात्रा-देव-अचेतनत्वाचित्त्वादिव्यवहारः वैष्णवशास्त्रेषु' नतुस्वरूपतो-ऽपिचित्त्वाभावात् । ततएव पराक्त्वमपि तस्य, नतु कालप्राकृतवत् स्वरूपतोजड़त्वात् । तदेतत्परिणामादिसर्वविक्रियानर्हं कालानि-यम्यं परिच्छेदाद्यन्तशून्यभगवदात्मकमनादिसिद्धभगवत्-संकल्पेन धामभूषणपरिकरपरिच्छेदादिरूपेणानन्तविधं भगवतो भगत्परिकर-स्य च भोग्यभूतं परिणामादिविक्रियामन्तरैव, तथैवानादिसिद्धत्वात्। तस्य सच्चिदानन्दघनत्वेन ''सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म'-इति श्रुत्युक्त-ब्रह्मलक्षणसम्पन्नत्वात् ब्रह्मपदवाच्यत्वमपि-अतएव तापिन्यादिषु ''तासांमध्ये साक्षाद्ब्रह्म गोपालपुरी'' इत्यादौ भगवद्धाम्नः ब्रह्म-त्वमुच्यते, एवं बहुत्र, तदेतत्सूष्ठूपपादितं मया युग्मतत्त्वसमीक्षादि-निबन्धेषु । इदमेवाक्षरब्रह्मादिपदव्यपदेश्यं शुद्धज्ञानमार्गिणां परमं प्राप्यं निरूप्यं च वस्तु, तेषां तस्य निराकारत्वेनैवप्रतीतेः । तत्रस्थितस्यापि विविधवैचित्र्यस्य क्षराक्षरातीतपुरुषोत्तमस्य च तत्क्रतुत्वाभावेन तेषां प्रतीत्यभावात् । नच तादृशस्याप्राकृतस्य वेदान्तरत्नमंजूषादिनिबन्धे प्राकृतकालविलक्षणत्व-स्वप्रकाशत्वानावरकस्वभावत्वपरिणामा-दिविक्रियानर्हत्वकालातीतत्वधामभूषणादि-रूपत्वादिकमेवोक्तं नतु :चिद्रूपत्वमपीतिवाच्यम । तस्य तत्र स्वप्रकाशत्वाना-वरकत्वकथनादेव स्वरूपतश्चिद्घनत्वोक्तेः । अतएव श्रीकृष्णस्तव-

राजे 'पारशून्यपरधाम तेऽद्भुतं चिद्घनं जयति लोकमूर्धनि । व्यापकं च परिखा सरिद्वराचिन्त्यशक्ति नवमंगलध्वनि' इत्यत्र पूर्वाचार्य्यैः स्वशब्देनापि चिद्रूपत्वमुक्तं, पद्माचार्य्यैरपि 'तृणगुल्मादिरूपत्वं श्रीमद्वृन्दावनस्य यत्, कृष्णक्रीड़ाकृते ज्ञेयं चिद्घनस्य विचित्रता' इत्यत्र तथैव चिद्घनत्वमुक्तं तदेतद्-व्यवस्थापितं तत्रैव श्रुत्यन्तसुरद्रुमे पुरुषोत्तमप्रसादचरणैः । वेदान्तकौस्तुभे जिज्ञासाधिकरणेअप्राकृततत्त्वनिरूपणे श्रीश्रीनिवासाचार्य्यैरपि भारतोदाहरणेन 'सत्यंसनातनंज्योतिः परंब्रह्मेति यं विदुः, इत्यादिना ब्रह्मपदवाच्यत्वमप्युक्तमिति न विप्रतिषेधावसरः ॥

अप्राकृत-यह प्राकृत एवं काल से विलक्षण अचित् वस्तु है । इसका स्वरूप लक्षण है-जो स्वरूपतः सच्चिदानन्दरूप होकर धर्मतः चैतन्यशून्य हो उसे अप्राकृत कहते हैं । यह तत्त्व स्वरूपतः जीव और ईश्वर की तरह सत्य ज्ञान एवं आनन्द स्वरूप होने पर भी उसमें जीव और ईश्वर की तरह धर्मभूत ज्ञान के अभाव के कारण वैष्णव शास्त्र में उसका अचेतन एवं अचित् शब्द से व्यवहार होता है, न कि स्वरूपतः भी चित्त्व का अभाव होने से । अतएव उसमें पराक्त्व भी है, न कि काल और प्राकृत की तरह स्वरूपतः जड होने के कारण । इस प्रकार वह भगवद्धाम परिणाम आदि समस्त विकारों से रहित है । काल द्वारा अनियन्त्रित है, वहाँ काल का कोई वश नहीं चलता, तथा परिच्छेद (लम्बाई-चौड़ाई) एवं आदि अन्त से रहित, भगदात्मक है, जो अनादिसिद्ध भगवत्संकल्प से धाम, भूषण, परिकर, परिच्छेद आदि रूप से अनन्त प्रकार के हैं, जो भगवान् एवं भगवत् परिकर के लिए भोग्य होता है । उसमें कोई परिणाम आदि विकार नहीं होते हैं और वह अनादिसिद्ध है । वह भगवद्धाम सच्चिदानन्दघन होने से ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इस श्रुति द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मलक्षण से सम्पन्न होने के कारण ब्रह्म पद वाच्य भी होता है । इसीलिए गोपालतापिनी आदि उपनिषदों में ''तासां मध्ये साक्षाद् ब्रह्म गोपालपुरी'' इत्यादि स्थलों में भगवद्धाम को ब्रह्म कहा गया है । इसी प्रकार अन्यान्य

बहुत स्थानों में कहा गया है । इस बात को हमने युग्मतत्त्व समीक्षा आदि निबन्धों में स्पष्टतया उपपादन किया है । यही अक्षर ब्रह्म आदि पदवाच्य है और यही शुद्ध ज्ञान मार्गियों का परम प्राप्य एवं निरूपणीय वस्तु है । उन्हें उस अक्षर ब्रह्म का निराकार रूप में ही प्रतीति होती है । उस अक्षर पदवाच्य धाम ब्रह्म में स्थित विविध वैचित्र्य समलंकृत क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम (सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण) की तत्क्रतुत्व के[1] अभाव से प्रतीती नहीं होती ।

यदि कहें कि उस अप्राकृत भगवद्धाम को वेदान्तरत्नमञ्जूषा आदि ग्रन्थों में केवल प्राकृतकालविलक्षणत्व, स्वप्रकाशत्व, अनावरकस्वभावत्व, परिणाम आदि विकारों से रहितत्व कालातीतत्व तथा धामभूषणादि रूपमात्र ही कहा गया है, न कि उसे चिद्रूप कहा है, तो ऐसा नहीं कह सकते, वहाँ उसे (भगवद्धाम को) स्वप्रकाश एवं अनावरक स्वभाव कथन मात्र से स्वरूपतः चिद्घनत्व प्रतिपादित हो जाता है । इसीलिए श्रीकृष्णस्तवराज ग्रन्थ में, "पारशून्य परधाम तेऽद्भुतं, चिद्घनं जयति लोक मूर्धनि । व्यापकं च परिखा सरिद्वराचिन्त्यशक्तिनव-मङ्गलध्वनि" इस श्लोक द्वारा स्वमुख से ही भगवद्धाम को चिद्घन कहा है । पद्माचार्य महाराज ने भी "तृणगुल्मादि रूपत्वं श्रीमद्वृन्दावन-स्ययत्, कृष्णक्रीडाकृते ज्ञेयं चिद्घनस्य विचित्रता" इस पद्य में श्रीवृन्दावनधाम को चिद्घन कहा है । इसी बात को श्रीपुरुषोत्तमप्रसाद महाराज ने भी अपने श्रुत्यन्तसुरद्रुम नामक ग्रन्थ में व्यवस्थित किया है । वेदान्त कौस्तुभ जिज्ञासाधिकरण में अप्राकृततत्व के निरूपण के अवसर पर श्री श्रीनिवासाचार्यचरण ने भी महाभारत के वाक्य- "सत्यं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति यं विदुः" के उदाहरण द्वारा भगवद्धाम को ब्रह्मपद-वाच्य भी कहा है । इस तरह इसके किसी प्रकारक विप्रतिषेध का अवसर नहीं है ।

---

१. 'स यथा क्रतुर्भवति तथेतः प्रेत्य भवति' अर्थात् साधक जैसा संकल्प वाला होता है-मृत्यु के बाद उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है, इस नियम के अनुरूप।

(५)

एतासां सर्वासां शक्तीनामात्मा स्वतंत्रसत्ताश्रयः स्वरूपतो-धर्मतो विग्रहादितश्च सच्चिदानन्दघनःपरमात्मा श्रीपुरुषोत्तमः श्रीकृष्णः--ईश्वरपदार्थः ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरःसर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥२॥
यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपिचोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥३॥

इति गीतोक्तेः ।

इन समस्त शक्तियों की आत्मा, स्वतन्त्रसत्ताश्रय, स्वरूपतः, धर्मतः तथा श्रीविग्रह आदि के रूप में भी सच्चिदानन्दघन परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ईश्वर पदार्थ है । जैसा कि भगवद्गीता के वाक्य हैं--''द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च, क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः, यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ।''

(६)

जीवेश्वरयोः स्वरूपवद्धर्मतोऽपिज्ञानवत्त्वेन चित्पदार्थत्वेऽपि जीवस्यैवविभाजकवाक्ये चित्पदार्थत्वकथनं कौरवत्वस्य धार्तराष्ट्रपाण्डवसाधारणत्वेऽपि धार्तराष्ट्राणामेव कौरवशब्दस्य बाहुल्येन व्यवहारवत् सामान्यविशेषाभिप्रायेणबोध्यम् । जीवे ईश्वरे च तत्तदविनाभूता ज्ञानेच्छाप्रयत्नादयः सच्चिदात्मका अपि धर्मतोज्ञानशून्या एव, तत्र ज्ञानस्वीकारेप्रयोजनाभावात्, तद्धर्मभूतज्ञानेऽपि ज्ञानान्तर-स्वीकारपरंपरया-अनवस्थापत्तेश्च तस्मात् स्वरूपतः स्व-प्रकाशाअपि ते धर्मतोज्ञानशून्या एवेति तेऽपि-अप्राकृतपदार्थान्त-र्भूता एवेति वदन्ति। इदंत्विहावधेयम्भगवद्धर्माणामप्राकृताख्य-

तत्त्वान्तरत्वकथने भगवद्धामस्थाप्राकृतवस्त्वन्तरवत् धर्माणामपि गतागतशीलत्वं संयुक्तविजातीयद्रव्यतया प्रतीयमानत्वं च स्यादिति नाशंकनीयम् । तेषां जलादौशैत्यमाधूर्य्यादिवत्-धर्मिणि स्वरूपतःसर्वथाऽनुस्यूतत्वेऽपिभगवद्रूपत्वेऽपि च धर्मतोज्ञान-शून्यत्वमात्रेणा प्राकृतत्वकथने तात्पर्य्यात्।

यहां ज्ञातव्य है कि जीव और ईश्वर स्वरूप की तरह धर्म से भी ज्ञानवान् होने के कारण (जीव और ईश्वर ज्ञान स्वरूप भी हैं और ज्ञानधर्मी भी हैं) दोनों चित् पदार्थ होने पर भी तत्त्व विभाजक वाक्य में जीव का ही चित् पदार्थ कथन, धृतराष्ट्र के पुत्रों एवं पाण्डवों दोनों के सामान्य रूप से कौरव होने पर भी बाहुल्येन धृतराष्ट्र के पुत्रों के लिए ही कौरव शब्द के प्रयोग की तरह जानना चाहिये ।

जीव और ईश्वर में विद्यमान दोनों के अविनाश ज्ञान-इच्छा प्रयत्न आदि धर्म सच्चिदानन्दात्मक होने पर भी धर्मतः ज्ञानशून्य हैं अर्थात् ईश्वर और जीव में विद्यमान, ज्ञान इच्छा में कोई अन्य ज्ञान इच्छादि धर्म नहीं है, कारण उसमें ज्ञान स्वीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं है । दूसरी बात धर्मभूत ज्ञान में ज्ञानान्तर स्वीकार करने पर उसमें भी ज्ञान उसके नाम में भी ज्ञान की अनवस्था हो जायेगी । इसलिये स्वरूपतः स्वप्रकाश रूप होने पर वे धर्मभूत ज्ञान शून्य ही हैं-ऐसा कहते हैं ॥६॥

(७)

एवम् जीवेश्वरयोः--प्राकृतभिन्नत्वलक्षणाप्राकृतत्वेऽपि सामान्याप्राकृतपदार्थविलक्षणधर्मभूतज्ञानवत्त्वात्-भिन्नत्वेन विभाजकवाक्ये व्यपदेशोब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनैव ।

इसी प्रकार जीव ईश्वर प्राकृत भिन्नत्वेन अप्राकृत होने से अप्राकृत पदार्थ में आ सकते हैं--फिर विभाजक वाक्य में इनका अलग से विभाजन कैसे ? तो इसका उत्तर है कि सामान्यतया प्राकृतभिन्न अप्राकृतत्त्व जीव ईश्वर में होने पर भी उसमें अप्राकृत पदार्थ विलक्षण धर्मभूत ज्ञान होने के कारण विभाजन वाक्य में भिन्नरूप से प्रतिपादन ब्राह्मण परिव्राजक न्याय

की तरह समझना चाहिये ॥७॥

(८)

भगवत्स्वरूपविग्रहयोस्तु-तत्तद्धर्मप्रतीतिकृत एव भेदः। स्वरूपानुवन्धिनिरतिशयगुणशक्त्यादितः परिपूर्णसच्चिदानन्दघनं स्वरूपमेव विग्रहत्वनिरूपकपुरुषाकारवनिताकारतदनुवन्धिसौन्दर्यमाधुर्य्यसौकुमार्य्यादिगुणवत्त्वेन प्रतीयमानं सत् विग्रहपदवाच्यं, आत्मानुबन्धिज्ञानेच्छाप्रयत्नादिमत्त्वेन प्रतीयमानं सत् आत्मस्वरूपादिपदवाच्यम् इति धर्मानुभवकृतएव भेदानुभवः, न तु स्वरूपभेदकृतः । तथा च ज्ञानस्य विग्रहत्वनिरूपकधर्मत्वाभावेन, विग्रहत्वेन निरूपणे धर्मभूतज्ञानशून्यत्वात् तस्यैव स्वरूपस्य विग्रहत्वेन निरुक्ताप्राकृतपदार्थत्वंज्ञानस्यात्मत्वनिरूपकत्वेन आत्मत्वेन निरूपणे धर्मभूतज्ञानवत्त्वात् धर्मभूतज्ञानशून्याप्राकृतपदार्थभिन्नत्वं तस्यैव स्वरूपस्य इत्युभयव्यवहारः ।

भगवत्स्वरूप और विग्रह में स्वरूप और विग्रह के तत्-तत् धर्म प्रतीतिकृत ही भेद है । स्वरूपनिष्ठ निरतिशय गुण शक्ति आदि से परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन स्वरूप ही विग्रहत्व प्रयोजक पुरुष अथवा वनिताकार एवं तत्सम्बन्धी सौन्दर्य, माधुर्य, सौकुमार्य आदि गुण युक्तत्वेन प्रतीयमान होने पर विग्रह पदवाच्य होता है और वहीं (आत्मानुबन्धी) ज्ञान, इच्छा प्रयत्न आदि गुण विशिष्टत्वेन प्रतीयमान होने पर आत्मस्वरूप आदि गुण पुंस्त्वेन विग्रह एवं ज्ञान-इच्छा, प्रयत्न आदि गुण विशिष्टत्वेन आत्मा रूप में ज्ञात होता है। इस प्रकार धर्मानुभव प्रयुक्त ही भेद है, न कि स्वरूप भेद कृत भेद है । इसी प्रकार ज्ञान के विग्रहत्व प्रयोजक धर्म न होने से जब स्वरूप का विग्रह रूप में निरूपण करते हैं, तब धर्मभूत ज्ञान शून्य होने के कारण स्वरूप के विग्रहत्वेन पूर्वोक्त अप्राकृत पदार्थ, तथा ज्ञान के आत्मत्व प्रयोजक होने से उसका आत्मत्वेन निरूपण करने पर उसमें धर्मभूत ज्ञान होने या रहने के कारण धर्मभूत ज्ञानशून्य अप्राकृत भिन्नत्व यह दोनों व्यवहार होता है । उक्त प्रकार के भगवत् स्वरूप में अप्राकृत

पदार्थत्व एवं अप्राकृत भिन्नत्व दोनों व्यवहार होते हैं । यह एक विशिष्ट बात है ॥८॥

(६)

श्रीदेव्याःभगवतश्च--स्वरूपतःएकत्वेऽपि स्त्रीत्व-तदनुबंधि धर्म-पुंस्त्वतदनुबन्धिधर्मप्रतीतिभेदकृता एव भेदप्रतीतिः तेनोभयपर्य्याप्तमेवेश्वरपदार्थत्वम् । इति ।

श्रीराधा एवं भगवान् श्रीश्यामसुन्दर दोनों स्वरूपतः (तत्त्वतः) एक होने पर भी स्त्रीत्व एवं तत्सम्बन्धी धर्म तथा पुंस्त्व एवं तत्सम्बन्धी धर्म प्रतीतिजन्य ही भेद प्रतीति होती है--इसलिए ईश्वरत्व पर्याप्ति सम्बन्धेन उभयनिष्ठ ही है (यह भी साम्प्रदायिक मान्यता की एक विशेषता है-अर्थात् श्रीराधामाधव युगल मिलकर ही ईश्वर है) ।

(१०)

अथ तेषां पदार्थानांभेदाभेदचिन्ता ।

तत्र श्रियः--पुरुषोत्तमस्य च ''स इममेवात्मानं द्वैधा पातयत् पतिश्चपत्नीचाभवताम्''-वृ. ह. उ.--''राधाकृष्णयोरेकमासनं पद्मं एका बुद्धिः एकं मनः एकं ज्ञानम् एक आत्मा एकं पदं एकंब्रह्म तयोरासनं हैममुरलिकावाद्यं हैमंपद्मम् इत्यादिश्रुतेः 'स ब्रह्महा सुरापीच स्वर्णस्तेयी च पंचमः । एतैर्दोषैर्विलिप्येत तेजोभेदान्महेश्वरि । यस्माज्ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधवरूपधृक्' इत्यादिस्मृतेश्च स्वरूपतो गुणतो विग्रहतश्च सर्वथैकात्म्यात् तादात्म्यसम्बधावच्छिन्नप्रतियोगिक-भेदस्याभावः । निरुक्तवैलक्षण्यानुभवस्तु श्रुतार्थापत्तिसिद्धः स्वरूपमाहात्म्यादेव तच्च विलक्षणकार्य्यकारित्वप्रमापणसमर्थ एकात्मत्वाविरोधिभावरूपं भगवत्स्वरूपधर्मविशेषभूतम् । तदपि वैलक्षण्यं स्त्रीत्वपुंस्त्वतदनुवन्धिशृँगाररसोद्दीपकधर्मविशेषमात्र-कृतम्। तदितरगुणशक्त्यादिषु तु सर्वथा वैलक्षण्याभाव एव, वक्ष्यमाणपदार्थानामंशत्वमनयोस्तु नांशांशिभाव इत्यपि अन्येभ्योविशेषोबोध्यः। इतिनात्रभेदाभेदचिन्तायाः प्रयोजनम् । अतएव न तयोः,

अण्वपि भेदचिन्ता क्रियते प्राज्ञैः केवलं वैलक्षण्यमात्रमिति। ललिताद्यंगजासखीभिःसहापि तथैव, तारतम्यानुभवस्तु निरुक्त-स्वरूपमाहात्म्यादेव । ललिताद्यंगजासखीविषये 'बृहद्ब्रह्मसंहि-तायां आत्मानमष्टधा कृत्वा रेमे गोपतिना सह' इति श्रियएव अष्टधा प्रतीत्युक्तेः । तत्र अष्टत्वमुपलक्षणम् । एतासां भगवता सह दाम्पत्यं तु नित्यसिद्धमेव ''श्रीश्चतेलक्ष्मीश्चपत्न्यौ'' इति 'मंत्रवर्णात् मा० सं० ३१।२२ । ''अस्येशानाजगतोविष्णुपत्नी'' विष्णुपत्न्यघोरास्येशाना' तै० सं० ४।४।१२।५ ''श्रीरस्येशानाजगतो विष्णुपत्नीतिवैश्रुतिः'' ६।६८। इति वृद्धहारीतस्मृत्युपबृंहणाच्च। 'गोप्योनामविष्णुपत्न्यः' इति गोपीचन्दनोपनिषच्च। विशेषतःयुग्मतत्त्वसमीक्षादौद्रष्टव्यम् । पाधनसिद्ध सखीनांतु यासां श्रीविग्रहोत्थविग्रहवत्त्वं तासां विग्रहां-शेन तु ललितादिवदेवबोध्यम् । अतएव सखीनांसर्वासामेव समुद्रस्य तरंगवत् भगवत्स्वरूपानन्दस्यैवविच्छित्तिरूपानन्दशक्ति-त्वात् । तदुक्तं पाद्मे वृ० मा० वृषभानुगेहंगतेन नारदेन 'आनन्द-रूपिणीशक्तिस्त्वमीश्वरी न संशय' इति भगवतस्तद्भोक्तृत्वेऽपि नात्मारामत्वव्याघातः । विषयारामत्वं वा इति हृदये सर्वातिशयेन स्थातव्यं कदाचिदपि न विस्मर्तव्यं लीलारसिकैरिति । आत्मांशेन तु जीवत्वात् वक्ष्यमाणजीवभेदाभेदादेवबोध्यम्। **वासुदेवादिव्यूह**-वैभवादिविषयेष्वपि तत्पत्नीष्वपि च भगवदंशमादाय श्र्यंशमादाय तथा यथा ललितादिषु । तेषांकदाचिदपि जीवत्वाभावात्। अति-रिक्तपार्षदेष्वपि केषु चिल्ललितादिवत्-केषुचित्साधनसिद्धसखीवत् तत्तद्धर्मसाधर्म्यात् बोध्यम् । येच पार्षदा स्त्रीविग्रहाः पुरुषविग्रहाः पशुवृक्षादिविग्रहा वा निरुक्तलक्षणाप्राकृताख्यशुद्धसत्त्वविग्रहा तेषां विग्रहांशे आत्मांशे च लक्ष्यमाणप्रकारेणाप्राकृततत्त्ववत् चित्तत्त्ववच्च भेदाभेदौ चिन्तनीयौ ।

अब इन पदार्थों के परस्पर भेदाभेद का विचार करते हैं--

श्रीराधा एवं श्रीपुरुषोत्तम श्यामसुन्दर में ''स इममेवात्मानं द्वेधा

पातयत् पतिश्चपत्नीचाभवताम्'' (बृ०ह०उ०) ''राधाकृष्णयोरेकमासनं पद्मं एका बुद्धिः एकं मनः एकं ज्ञानं एक आत्मा एकं पदं एकं ब्रह्म तयोरासनं हैममुरलिकावाद्यं हैमं पद्मं'' इत्यादि श्रुतियों तथा ''स ब्रह्महा सुरापी च स्वर्णस्तेयी च पंचमः । एतैर्दोषैर्विलिप्येत तेजोभेदान्महेश्वरि। यस्माज्ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधवरूपधृक्'' इत्यादि स्मृतियों द्वारा स्वरूपविग्रह में सर्वथा ऐकात्म्य (ऐक्य) होने के कारण उनमें तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद का अभाव है--अर्थात् दोनों में बिल्कुल भेद नहीं है । उभय के वैलक्षण्यानुभव (वैलक्षण्य प्रतीति) श्रुतार्थापत्ति सिद्ध है, जो कि स्वरूप के माहात्म्य से ही है, उन दोनों में भेद तो विलक्षण कार्यकारित्व प्रापण समर्थ विरोधि (वैलक्षण्य प्रतीति) तथा विलक्षण कार्यकारिताका निर्वाहक धर्म विशेष है, वह भावरूप भगवत् स्वरूप धर्म विशेषभूत है । वह वैलक्षण्य भी स्त्रीत्व, पुंस्त्व एवं तत्सम्बन्धी शृङ्गाररसोद्दीपक धर्म विशेष प्रयोज्य मात्र है । इससे भिन्न गुणशक्ति आदि में तो कुछ भी विलक्षणता (भेद) नहीं है । वक्ष्यमाण पदार्थों (जीव जगत्) आदि में अंशत्व है, पर प्रिया प्रियतम में अंशांशिभाव नहीं है, ये दोनों तो सर्वथा एक तत्त्व है । यह भी अन्य तत्त्वों से विशेषता है । यह ज्ञातव्य है इसलिए-इन दोनों भेदाभेद की चिन्ता का कोई प्रयोजन नहीं है । इसलिए इन दोनों में अणुमात्र भी भेद की चिन्ता विद्वज्जन नहीं करते, केवल वैलक्षण्य प्रतीतिमात्र ही भेदाभेद है । (नोटः-यह अति गंभीर विषय है निम्बार्क सम्प्रदाय में भेद और अभेद न्याय शास्त्र वाला भेद नहीं है-किन्तु श्रौत भेदाभेद विलक्षण है जिसका सूक्ष्म विचार इस ग्रन्थ में किया गया है, जो द्वैताद्वैतविवेक ग्रन्थ पूरा पढने पर ज्ञात हो सकता है ।) अनुवादक।

ललिता आदि अंगजा सखियों के साथ भी श्रीप्रियाजी की तरह ही समझना चाहिये, फिर भी जो सखियों के साथ तारतम्यता का अनुभव होता है-वह पूर्वोक्त स्वरूप माहात्म्य से ही समझना चाहिये । ललिता आदि नित्य सिद्धा सखियों के विषय में बृहद् ब्रह्म संहिता में लिखा है-

'आत्मानमष्टधा कृत्वा रेमे गोपतिना सह' अर्थात् श्रीराधाजी अपने आपको आठ रूप में विभक्त करके गोविन्द के साथ विहार करती हैं । इस प्रकार श्रीजी ही की आठ रूपों में प्रतीति होती है । यहाँ अष्टत्व संख्या उपलक्षण है । इन सबका भगवान् श्रीश्यामसुन्दर के साथ दाम्पत्य नित्य सिद्ध ही है। क्योंकि ''श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ'' ऐसा श्रुतिमन्त्र है । (मा.सं. ३१।२२) 'अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी' 'विष्णुपत्न्यघोरास्येशाना' (तै० सं० ४।४।१२५) 'श्रीरस्येशाना जगतो विष्णुपत्नीतिश्रुतिः ऐसा बृहद्हारीत स्मृति का उपबृंहण है, ''गोप्यो नाम विष्णुपत्न्यः'' ऐसा गोपीचन्दन उपनिषद् का वाक्य है । उपर्युक्त चारों मन्त्रों का तात्पर्य है, श्री और लक्ष्मी भगवान् की नित्य पत्नी हैं, और श्री का ही ललिता आदि सखियाँ काय व्यूहरूपा होने से उन सब का भी नित्य दाम्पत्य सिद्ध होता है । इस सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य मेरी रचना श्रीयुग्मतत्त्व समीक्षा-वेदान्ततत्व समीक्षा एवं श्रीभगवत् तत्त्व सुधा निधि ग्रन्थों में देखना चाहिये। साधन सिद्धा सखियों में तो जिनका श्रीराधा के विग्रह से यानी विग्रह के तेज से विग्रह बने हैं, उन सबका विग्रहांश से तो श्रीललिता आदि सखियों की तरह ही समझना चाहिये । इसीलिये सखियाँ सभी समुद्र की तरंग की तरह आनन्द स्वरूप भगवान् की ही विच्छित्तिरूप आनन्द शक्ति है । जैसा कि पद्मपुराण में वृन्दावन माहात्म्य में श्रीवृषभानु बाबा के घर जाने पर श्रीजी के विषय में नारदजी ने कहा है--''आनन्दरूपिणीशक्ति-स्त्वमीश्वरी न संशयः'' अर्थात् आप भगवान् श्रीश्यामसुन्दर की आनन्द-रूपिणी शक्ति हैं । इस प्रकार भगवान् द्वारा उनका भोग करने पर भी भगवान् में आत्मारामत्व का व्याघात नहीं होता और ना ही उनमें विषयारामत्व ही होता है। इस बात को साधकों को अपने हृदय में याद रखना चाहिए, लीला रसिकों को इसे कभी भी नहीं भूलना चाहिये ।

इन साधन सिद्धा सखियों के आत्मांश से तो जीव होने के नाते आगे बताये जाने वाले भेदाभेद की तरह भेदाभेद समझना चाहिये । वासुदेव आदि व्यूहों एवं वैभव आदि विषयों तथा उनकी पत्नियों में भी

भगवदंश या श्रीअंश लेकर ललिता आदि की तरह समझना चाहिये । इनमें कदापि जीवत्व नहीं है । अतिरिक्त पार्षदों में भी कुछ में ललिता आदि की तरह कुछ में साधनसिद्धा सखियों की तरह तत्-तत् धर्म के साधर्म्य से समझना चाहिये । जो पार्षद स्त्रीविग्रह हैं या पुरुषविग्रह वाले हैं अथवा पशु वृक्ष आदि विग्रह वाले हैं, उन सब में विग्रह अंश एवं आत्मांश में वक्ष्यमाण प्रकार से अप्राकृत तत्त्व तथा चित् तत्त्व की तरह भेदाभेद विचारना चाहिये-समझना चाहिये ।

यथा च श्रीमारमालक्ष्म्याद्यनन्तनामधेयया-भगवद्‌द्रूपानुरुपानन्तरूपया-स्वानुरूपनिरतिशयप्रेमानन्दपरमर्द्धिस्वरूपया राधया परमश्रिया नित्यं निरन्तरं सर्वतः समाराधितः-विष्णुनारायणाद्य-नन्तपदाभिधः परमः पुरुषः श्रीकृष्ण एव सर्वेश्वरः सर्वात्मा परंब्रह्म तथोपपादितं पूर्वाचार्य्यैः वेदान्तरत्नमञ्जूषादिनिबन्धेषु । अस्माभिरपि युग्मतत्त्वसमीक्षावेदान्ततत्त्वसमीक्षादिविस्तृतनिबन्धेषु-''तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् । तै० ना० उ० २ दिव्यो देव एकोनारायणः सु० खं० ६ । स एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेव एकोनारायणः सु० उ० ७। निष्कलङ्को निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धोदेव एकोनारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित् ना उ० ।-एको हवै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः, महोपनि० । कः परमो देवः ''कृष्णो वै परमं दैवतम्'' ''तस्मात्कृष्ण एव परमो देवः''--''तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनम् गो० उ० ''श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ'' ३१।१४८ ''श्रीरस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी'' तै० सं० ४।१२ स नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स इममेवात्मानं द्वैधाऽपातयत् पतिश्च पत्नी चाभवताम् ॥ बृ० उ० १।३॥ तस्या द्या प्रकृतीराधा नित्या निर्गुणा सर्वालंकारशोभिता प्रसन्नाऽशेष-लावण्यसुन्दरी । यस्याअंशेलक्ष्मीदुर्गादिशक्तिः, पुरुषार्थ बोधिनीउ०। इत्यादिश्रुतीनां तदुपबृंहकस्मृतीनां च सामान्यविशेष-परिशेषोपसंहारादिपरि-

शिष्ट्या । निरूपितमिति तत्रैवावधेयमन्यदप्यपेक्षितं सर्वं तत्र चिन्तितमिति ।

जिस प्रकार विष्णुनारायण आदि अनन्त नामधेय परम पुरुष श्रीकृष्ण ही-श्री, रमा, लक्ष्मी आदि अनन्त नाम पदवाच्य भगवत् स्वरूप अनन्तरूपा, निरतिशय प्रेमानन्दरूपिणी श्रीपरम श्रीराधा के द्वारा निरन्तर आराधित होते हुये सर्वेश्वर, सर्वात्मा, पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं। इसका उपपादन पूर्वाचार्यों ने वेदान्तरत्नमञ्जूषा आदि निबन्धों में किया है । हमने भी श्रीयुग्मतत्त्व समीक्षा तथा वेदान्ततत्त्व समीक्षा आदि विस्तृत निबन्धों में किया है । इन ग्रन्थों में हमने ''तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्'' (तै. ना. उ. २)'' दिव्यो देव एको नारायणः (सु. खं. ६) ''स एष सर्व-भूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायण'' (सु. उ. ७) 'निष्कलङ्को निरञ्जनोनिर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एकोनारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित् (ना. उ. ७) ''एको ह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मानेशान (महोपनिषद्) 'क परमो देवः कृष्णो वै परमं दैवतम्' 'तस्मात् कृष्ण एव परमोदेवः' ''तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्'' वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनम् (गो. उ.) 'श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' (३१/१४८) 'श्री' रस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी' (तै. सं. ४/१२) 'स नैवरेमे तस्मादेकाकी न रमते स इममेवात्मानं द्वैधाऽपातयत् पतिश्च पत्नी चाभवताम् (बृ. उ. १/३) 'तस्याद्या प्रकृती राधा नित्या निर्गुणा सर्वा-लंकारशोभिता प्रसन्नाशेषलावण्यसुन्दरी । यस्या अंशेलक्ष्मीदुर्गादिशक्तिः (पुरुषार्थ बोधिनी उ.) इत्यादि श्रुतियों एवं इसके उपबृंहक स्मृतियों द्वारा निरूपण किया है, इसलिये इन ग्रन्थों द्वारा ही जानना चाहिये । उक्त ग्रन्थों में श्रीराधाकृष्ण सम्बन्धी समस्त अपेक्षित विषयों का चिन्तन किया गया है ॥१०॥

(११)

निरुक्ताप्राकृतपदार्थस्तु ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इति-श्रुत्युक्तब्रह्मरूपलक्षणेनैकात्म्यात् नियमतस्तादात्म्येन नित्यसम्बधे-

नैवसद्भावाच्च न तादात्म्यसम्बन्धावाच्छिन्नतादृशब्रह्मत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकस्य तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाप्राकृतत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकस्य वा भेदस्य संभवः अन्यतरस्मिन्नपि । न च धर्म-भूतज्ञानवत्त्वावच्छिन्नत्वेन ब्रह्मप्रतियोगिकस्य तादृशधर्मशून्यत्वाव-च्छिन्नत्वेन चाप्राकृतपदार्थप्रतियोगिकस्य च भेदस्योभयत्र संभव-इतिवाच्यम् । तथापि उभयोस्तादात्म्यस्योभयत्रविद्यमानत्वेन तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नत्वाभावेन तस्य भेदत्वाभावात् । अतएव धामत्वभूषणत्वादिकृतोऽपि न भेदः, अप्राकृततत्त्वस्य च साकल्येन भगवदात्मकत्वेन-धामत्वभूषणत्वादीनामपि भगवद्धर्मत्त्वेन तादा-त्म्यस्य विद्यमानत्वात् न तादृशधर्मावच्छिन्नतादात्म्यसम्बन्धा-वच्छिन्नाभावसंभवः । तत्तद्भूषणादिवस्तुषु धर्मभूतज्ञानाभावेऽपि भगवदात्मकतया भगवत्तादात्म्यस्य नियमतोविद्यमानत्वेन तादा-त्म्यघटितभेदाभावाच्च । तस्मात्-धामभूषणपरिकरपरिच्छदादिभिः सह भगवतः, भगवता सह च तेषां सर्वथैव तादात्म्यसम्बन्धा-वाच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य भेदस्य अत्यन्ताभाव एव । तथापि आकारप्राकारकार्य्यादिवैलक्षण्यानुभवः गुणशक्त्यादितारतम्यानु-भवश्च तादृशानिर्वचनीयस्वरूपमाहात्म्यलक्षणनिरुक्तधर्मविशेषादेव । अतएव प्रमात्मकएवनाविद्याकल्पितः, एवं च तादात्म्य-घटितलोकप्रसिद्धभेदस्याभावेऽपि तत्रत्यसकलवस्तुषु भगवत्ता-दात्म्यानुभवेन सहैव तादृशमाहात्म्यविशेषात् तादृशवैलक्षण्यस्यापि तत्रत्यानामनुभवात् भेदाभावेऽपि लोकप्रसिद्धतादृशवैलक्षण्य-प्रतीतिविरोधित्वं तत्र नास्त्येव । अतएव कृष्णोपनिषदि ''तस्मान्नभिन्नंनाभिन्नमार्भिर्मिन्नो न वै विभुः । भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम्'' इति श्रूयते ।

अत्र तस्मात् इति तच्छब्देन वैकुण्ठस्थितं पूर्वोक्तं सर्ववस्तु परामृश्य तस्य भगवता सह लोकप्रसिद्धोभेदः अभेदश्च निषिद्ध्येते ''न भिन्नम्'' इति भेदोनास्ति इत्यर्थः, तत्रत्यसर्वस्य वस्तुनो

ब्रह्मात्मकत्वेन ब्रह्मत्वात् निरुक्तदिशा तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नेतरे-तरधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यात्यन्तमभावात् । अथा-भेदोऽपि प्रतिषिद्ध्यते ''नाभिन्नमिति'' न च तादृशाभेदप्रतिषेधे तादृशभेदप्रवेशेन व्याघात इति वाच्यम् । स्वरूपतः अभेदप्रतिषेधे तात्पर्य्याभावात् । किन्तु लोके अत्यन्ताभेदस्थले वैलक्षण्यप्रतीत्य-भावोदृष्टः सचात्र नेष्टः तादृश वैलक्षण्यस्य श्रुतिसिद्धत्वात् । तस्मादत्र अभेदे लोक-सिद्धवैलक्षण्यप्रतिबन्धकत्वमात्रं निषिध्यते। तथा च निरुक्त-वैलक्षण्यप्रतिबन्धकत्वविशिष्टत्वेनाभेदस्यात्र निषेधः। विशेषणांशनिषेधाभिप्रायेणविशिष्टनिषेधः शिखीनास्ति इत्यादिवत् । एवं च भेदस्य स्वरूपतोनिषेधेऽपि अभेदेऽपि वैलक्षण्य-प्रतीतिप्रतिबन्धकत्वांशस्य निषेधात् वैलक्षण्यप्रतीतेः, भेदं विनैव तादृशस्वरूपमाहात्म्यजन्यत्वं श्रुतिः स्वमुखेनैव सूचयति तदेव च माहात्म्यं स्वरूपधर्मविशेषभूतं पूर्वोक्तविशेषताख्यं भेदा-भेदवादिभिः अंशतः भेदकार्यकारित्वात् भेदाभेद घटकभेदशब्देन वैलक्षण्यप्रतिबन्धकत्वशून्याभेदश्चाभेदशब्देन प्रतिभाष्यते इति । एवं तत्रत्यानां तत्तद्वस्तूनामपि न परस्परं भेदः, सर्वेषां भगवदा-त्मकत्वात् । नच स्वरूपतो भगवदात्मकत्वेऽपि तत्तद्वस्तुगत-सामर्थ्यभेदात् भेद स्यादितिवाच्यम् । तत्तत्सामर्थ्यस्य सर्वस्यैव तत्रत्यसर्ववस्तुगतत्वेन भेदप्रतियोगितावच्छेकत्वाभावेन भेदनिया-मकत्वाभावात् । न च सर्वदा सर्वत्र सर्वधर्मप्रतीतिप्रसक्तिः, भग-वदिच्छायानियामकत्वेन यदा यद्रूपेण यद्वस्तु भगवान् इच्छति तदा तद्वस्तु तथात्वेनानुभूयते । तत्रत्यानामिच्छापि भगवदिच्छाधीनैव इति न काचिदनुपपत्तिः । 'आभिर्भिन्नो नवै विभुः' इत्यनेन तु 'तस्मान्नभिन्नंनाभिन्नम्' इत्यनेन तत्रत्यानां समस्ततत्त्वानां-लौकिकभेदाभेदयोर्निषेधेनैव प्रेयसीवृन्दभगवतोरपि तन्निषेधसिद्धौ पुनस्तदनुवादः अन्यसकलवस्त्वपेक्षया तासामल्पवैलक्षण्यसूचनेन भगवत्तादात्म्यातिशयबोधनद्वारेण भगवद्धर्माणां तास्वपि स्फुटत्व-

बोधनायेत्यपि बोध्यम् । भिन्नमभिन्नमित्यत्र नपुंसकत्वंतु विशेष्य-वाचकविभुपदस्य पुंस्त्वेऽपि श्रौतं बोध्यम् । एवं च भगवद्धर्माणामपि धर्मभूतज्ञानशून्यचिदानन्दरूपनिरुक्ताप्राकृतपदार्थत्वेन तादात्म्या-ख्यनित्यसम्बन्धवत्त्वेन च तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता-काभावरूपस्य भेदस्याभाव उक्त एव । तत्रापि ''किमात्मकोभगवान् ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मकः शक्त्यात्मकः'' इत्यादिश्रुतौ धर्माणां भग-वदात्मकत्ववत् भगवतोऽपि धर्मात्मकत्वस्य स्वशब्देनैवोक्तेः उभ-यतएव तादात्म्यस्य स्फुटत्वात् नितरामन्योन्याभावस्याभावः ।

न च तत्तद्धर्मेभ्यः--धर्मतो ज्ञानाभावकृतोभेदः स्यादिति-वाच्यम् । धर्माणां भगवदात्मकत्त्वेन तत्तद्धर्मभूतज्ञानशून्यत्वस्यापि भगवद्धर्मत्वात् न तत्तद्धर्मावच्छिन्नभेदसंभवः । धर्माणां परस्परमपि नभेदः सर्वत्र सर्वयोग्यताप्रकाशनसामर्थ्यसत्त्वेन भेदनियामकाभावात् । प्रकाशनस्य च भगवत्तंत्रत्वेन नैककालावच्छेदेन सर्वत्र सर्व-योग्यतानुभवः। भगवद्भगवद्धर्माणां सर्वथा भेदाभावादेव धर्मा-णामपि ''ज्ञानशक्तिवलैश्वर्य्यवीर्य्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्द-वाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः'' इत्यत्र विष्णुपुराणे भगवत्त्वोक्तिः। विग्रहधर्माणां सौन्दर्य्यमाधुर्य्यसौकुमार्य्यादीनां अवयवेन्द्रियादी-नामपि च स्वभावसांकर्य्यस्य ''विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः'' इत्यादिश्रुतौ ''अंगानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति आनन्दचिन्मयसमुज्ज्वलविग्रहस्य गोविन्द-मादिपुरुषं तमहं भजामि' इत्यादिस्मृतौचोक्तत्त्वान्नतत्तद्धर्मावच्छिन्न-भेदसंभवः । वैलक्षण्यनियामकं तु पूर्वोक्तं स्वरूपमाहात्म्यमेवेति न विस्मर्तव्यम् ।

निरुक्त अप्राकृत पदार्थ तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति में प्रतिपादित लक्षण से सर्वथा एक होने से अप्राकृत पदार्थ और ब्रह्म में नियमतः तादात्म्य होने से अप्राकृत तत्त्व का तादात्म्यरूप नित्य सम्बन्ध से ही ब्रह्म में सद्भाव होने से उसमें तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न तादृश

ब्रह्मत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अथवा तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न अप्राकृततत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद संभव नहीं है । यदि कहें कि धर्मभूत ज्ञानवत्वावच्छिन्नत्वेन ब्रह्म प्रतियोगिक भेद अप्राकृतपदार्थ धाम में (यानी अप्राकृततत्त्वधर्मभूत ज्ञानविशिष्ट ब्रह्म में यह भेद) और तादृश धर्मशून्यतावच्छिन्नत्वेन अप्राकृत पदार्थ प्रतियोगिक भेद ब्रह्म में (अर्थात् धर्मशून्य अप्राकृत पदार्थो ब्रह्म न) इत्याकारक भेद दोनों जगहों में हो जायेगा तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उभय का तादात्म्य उभय में विद्यमान होने से यानी ब्रह्म का तादात्म्य अप्राकृततत्व में तथा अप्राकृत-तत्त्व का तादात्म्य ब्रह्म में होने से उक्त भेद के तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न-त्वका होना आवश्यक है । क्योंकि तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियो-गिताक अभाव को ही भेद कहते हैं-जैसे 'तादात्म्य घटः पटो न' इस भेद में पटत्वावच्छिन्नत्व एवं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न दोनों है) । इसलिए धामत्व भूषणादि कृत भेद भी नहीं हो सकता, क्योंकि अप्राकृत तत्त्व पूर्णरूप से भगवदात्मक होने के कारण धामत्व, भूषणादि धर्म भी भगवद् धर्म होने से वहाँ तादात्म्य विद्यमान है । इसलिये धामत्वभूषणत्वावच्छिन्न तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्नाभावत्व उसमें संभव नहीं है । तत्-तत् भूषण आदि वस्तुओं में धर्म भूत ज्ञान का अभाव होने पर भी भूषणादि के भगवदात्मक होने से उनमें भगवत् तादात्म्य नित्यरूप से विद्यमान होने के कारण उनमें तादात्म्य घटित भेद का अभाव है । इसलिये धाम, भूषण, परिकर, परिच्छेद आदि के साथ भगवान् का एवं भगवान् के साथ उन सबका तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न स्वरूप भेद का अत्यन्ताभाव ही है-यह समझना चाहिये[1] । फिर भी आकार, प्रकार एवं अन्यान्य कार्य कलापादि में विलक्षणता का अनुभव तथा गुण, शक्ति आदि में तारतम्य

---

१. ज्ञातव्य है कि श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में जीव और ब्रह्म में तथा जगत् और ब्रह्म में स्वाभाविक भेदाभेद है-पर भेद और अभेद यहाँ विलक्षण है-न्यायशास्त्र वाला भेद अभेद नहीं किन्तु श्रौत भेद अभेद इनसे विलक्षण है-यह विषय इस ग्रन्थ में विस्तार से समझाया गया है ।

का अनुभव भगवान् के उक्त अनिर्वचनीय स्वरूप माहात्म्य स्वरूप धर्म विशेष से होता है । इसलिए सब कुछ प्रमात्मक (यथार्थ) ही है, अविद्या कल्पित नहीं । इस प्रकार तादात्म्य घटित लोक प्रसिद्ध भेद का भगवान् एवं भगवद् धाम, जीव और ईश्वर, प्रिया-प्रीतम, सखी-परिकर में अभाव होने पर भी लोक प्रसिद्ध तादृश वैलक्षण्य प्रतीति विरोधित्व वहाँ सर्वथा नहीं है । इसलिए कृष्णोपनिषद् में कहा है--

तस्मान्नभिन्नं नाभिन्नमाभिर्भिन्नो न वै विभुः ।
भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम् ॥

यहाँ तस्मात् के तत् शब्द से वैकुण्ठ में स्थित पूर्वोक्त सम्पूर्ण वस्तुओं को लक्ष्य कर उसका भगवान् के साथ लोक प्रसिद्ध भेद या अभेद का निषेध किया गया है । 'न भिन्नं' इसका अर्थ है-भेदोनास्ति-भेद नहीं है । वहाँ के सम्पूर्ण वस्तुओं के ब्रह्मात्मक होने से ब्रह्म होने के कारण तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावरूप भेद का अभाव है । इसके बाद अभेद का भी प्रतिषेध है-नाभिन्नं-। यदि कहें कि अभेद का प्रतिषेध करने पर भेद का प्रवेश हो जायेगा तो ऐसा नहीं कह सकते, कारण यहाँ स्वरूपतः अभेद प्रतिषेध में तात्पर्य नहीं है । किन्तु लोक में अत्यन्त अभेद स्थल में वैलक्षण्य प्रतीति का अभाव देखा गया है, वह यहाँ इष्ट नहीं है, यहाँ अभेद होने पर भी वैलक्षण्य प्रतीति श्रुति सिद्ध है । इसलिये यहाँ अभेद में लोक प्रसिद्ध वैलक्षण्य के प्रतिबन्धकत्वमात्र का निषेध किया जाता है । लौकिक अभेद में वैलक्षण्य प्रतीति नहीं होती-यहाँ इस अभेद में वैलक्षण्य प्रतीति है । इसलिए यहाँ वैलक्षण्य प्रतिबन्धकत्व विशिष्ट अभेद का निषेध है । यहाँ विशेषणांश निषेधाभिप्रायेण विशिष्ट में निषेध है अर्थात् वैलक्षण्य प्रतिबन्धक विशिष्ट अभेद नहीं है-यानी अभेद तो है पर इस अभेद में वैलक्षण्य प्रतिबन्धकत्व विशेषण नहीं है । जैसा शिखी के विनाश न होने पर भी शिखा के विनाश होने से 'शिखी विनष्ट' ऐसा प्रयोग होता है-उसी प्रकार नाभिन्नं-में अभेद निषेध विशेषणांश वैलक्षण्य प्रतिबन्धकत्व न होने से ही अभेद का निषेध है ।

इस प्रकार यहाँ भेद का स्वरूपतः निषेध होने पर अभेद होने पर भी वैलक्षण्य प्रतिबन्धकत्वांश का निषेध होने से भेद के बिना ही तादृश स्वरूप माहात्म्य से ही अभेद होने पर भी वैलक्षण्य प्रतीति संभव है-ऐसा श्रुति स्वयं सूचित करती है । वही माहात्म्य जो भगवत् स्वरूप का धर्म विशेषभूत पूर्वोक्त विशेषतारूप भेदाभेदवादी आंशिकरूप से भेद कार्यकारी होने से भेदाभेदघटक भेदशब्द से तथा वैलक्षण्य प्रतिबन्धकत्व शून्यरूप अभेद, अभेद शब्द से व्यवहार करते हैं । इसी प्रकार भगवद्धाम के समस्त वस्तुओं में भी परस्पर भेद नहीं है--क्योंकि वे सभी भगवदात्मक है । यदि कहें कि स्वरूपतः भगवात्मक होने पर भी तत् तत् वस्तुगत सामर्थ्य के भेद से भेद होगा, तो ऐसा भी नहीं कह सकते--क्योंकि तत् तत् वस्तुगत समस्त सामर्थ्य के भी तत् तत् वस्तुगत होने से उसमें भेद प्रतियोगितावच्छेकत्व के अभाव के कारण वहाँ भेद नियामत्व का अभाव है । यदि कहें कि फिर तो सर्वत्र सर्वदा सभी धर्मों की प्रतीति प्रसक्ति हो जायेगी तो ऐसा नहीं हो सकता, इर. विषय में भगवदिच्छा के नियामक होने से भगवान् जब जिस वस्तु को जिस रूप में प्रतीति कराना चाहें तभी वह वस्तु उस रूप में अनुभूयमान होती है । वहाँ के जीवों की इच्छा भी भगवान् के इच्छा के अधीन ही होती है-इस प्रकार कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

''आभिर्भिन्नो न वै विभुः'' इस अंश से तो 'तस्मान्नभिन्नं नाभिन्नम्'' इससे विशेष-लौकिक भेद में दो बाते होती हैं, तादात्म्य का अभाव और वैलक्षण्य प्रतीति । पर श्रीनिम्बार्क सम्मत श्रौत भेद में तादात्म्याभाव का अभाव होने पर भी वैलक्षण्य प्रतीति होती है । अर्थात् तादात्म्य भी है और विलक्षण प्रतीति-विलक्षण कार्यकारिता भी है ।

वैकुण्ठ स्थित समस्त तत्त्वों के लौकिक भेदाभेद के निषेध से ही प्रेयसीगण एवं भगवान् श्यामसुन्दर में भी लौकिक भेदाभेद का निषेध सिद्ध है ही पुनः 'आभिर्भिन्नो न वै विभुः' इस अंश से पुनः उसका अनुवाद (भेदाभेदनिषेध का कथन) अन्य सकल वस्तुओं की अपेक्षा

प्रेयसीवृन्दों में अल्पभेद की सूचना से उनमें भगवान् के तादात्म्य के आधिक्यबोधन द्वारा भगवदीय धर्मों का उनमें भी स्फुरण होता है-इस बात को समझने के लिए ये है-यह भी समझना चाहिये[1] ।

यदि कहें कि उक्त वैदिक वाक्य में जब विशेष्यवाचक विभु पद पुल्लिङ्ग है फिर भिन्नाभिन्नं यह नपुसक विशेषण कैसे ? तो उसका उत्तर है यह श्रौत प्रयोग है ।

इस प्रकार भगवदीय धर्मों के भी धर्मभूतज्ञानशून्य होने के कारण उनमें भी निरुक्त अप्राकृत पदार्थान्तर्गत होने एवं उनमें भी तादात्म्य सम्ब-न्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभावरूप भेद का अभाव है, यह भी कह दिया गया समझना चाहिए ।

'किमात्मको भगवान् ज्ञानात्मकः ऐश्वर्यात्मकः शक्त्यात्मकः' इत्यादि श्रुति में भगवदीय धर्मों के भगवदात्मकत्व की तरह भगवान् के भी धर्मात्मकत्व स्पष्टतया श्रुति में कहा गया । दोनों तरह से तादात्म्य कथन से इनमें अन्योन्याभाव का अत्यन्त ही अभाव है-यह समझना चाहिये ।

यदि कहें भगवदीय तत् तत् धर्मों से उनमें धर्मभूत ज्ञान के अभाव प्रयुक्त भेद होगा अर्थात् भगवान् में ज्ञानरूप धर्म है-पर भगवान् के ज्ञानरूप धर्म में कोई धर्म नहीं-तो ऐसा भी नहीं कह सकते, धर्मों के भगवदात्मक होने से तत् तत् धर्मभूत ज्ञानशून्यत्व के भी भगवद् धर्म होने से तद् धर्मावच्छिन्न भेद का भी संभव नहीं है । धर्मों में भी परस्पर भेद नहीं क्योंकि सभी में सर्वयोग्यता प्रकाशन सामर्थ्य रहने से उनमें भेद नियामक नहीं है । योग्यता प्रकाशन भगवत् अधीन होने से एक काल में सर्वत्र

---

१. भाव यह है कि 'तस्मात्रभिन्नं नाभिन्नं' इस अंश से ही गोपीजनों एवं भगवान् में भी लौकिक भेदाभेद निषेधसिद्ध था-पुनः 'अभिर्भिन्नो न वै विभुः' द्वारा भगवान् एवं गोपियों में भेद निषेध का तात्पर्य यह है कि भगवान् एवं गोपियों में भेदांश अत्यल्प है-अभेदांश अधिक है और इस कारण भगवदीय धर्मों का उनमें स्फुरण होता है इसी रहस्य को समझाने हेतु 'आभिर्भिन्न.... कहा गया है ।

सभी योग्यताओं का अनुभव नहीं होता । भगवान् एवं भगवान् के धर्मों के सर्वथा भेद के अभाव के कारण ही धर्मों को भी "ज्ञानशक्ति-बलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः'। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः। इस वचन द्वारा विष्णु पुराण में भगवान् ही कहा गया है । इसी प्रकार विग्रह धर्म-सौन्दर्य, माधुर्य, सौकुमार्य आदि तथा करचरणादि अवयवों एवं नेत्र आदि इन्द्रियों के परस्पर स्वभाव सांकर्य का "विश्वत-श्चक्षुरुतविश्वतोमुख" इत्यादि श्रुतियों तथा "अंगानि यस्य सकलेन्द्रिय-वृत्तिमन्ति, पश्यन्ति यान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति, आनन्दचिन्मयसमु-ज्ज्वलविग्रहस्य, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।" आदि स्मृतियों में वर्णन होने से उनमें भी तद्धर्मावच्छिन्न भेद संभव नहीं है । (भगवान् के सभी इन्द्रियों-अवयवों में भी परस्पर भेद नहीं है यह भाव है) यदि कहें कि इन्द्रियों एवं अवयवों में परस्पर भेद नहीं तो फिर उनमें वैलक्षण्य प्रतीति कैसे तो उसका उत्तर वहीं पूर्वोक्त स्वरूप माहात्म्य अर्थात् भगवान् के स्वरूप माहात्म्य से ही अभेद होने पर भी विलक्षणता की प्रतीति होती रहती है ॥११॥

(११-१)

इदं पुनरिहानुसन्धेयम्--ननु श्रुत्यन्तसुरद्रुमे--"लभ्य एव रसमूर्तिमान्" इत्यस्य व्याख्याने स्वरूपविग्रहयोरभेदस्य निरा-करणाद्भेदस्यव्यवस्थापनाच्च नैतद्युक्तमिति चेन्न । तत्र अत्यन्ता-भेदस्यप्रतिषेधे-भेदाभेदघटकस्य पूर्वांशेनिरूपितविलक्षणभेदस्य च व्यवस्थापने तात्पर्य्यात् । जडस्वभावयोः प्राकृतकालयोरपि ब्रह्मस्वरूपेण सह भेदाभेदवादी कथमत्यन्तान्तरङ्गयोः स्वरूपविग्रहयोरेवाभेदं निराकुर्य्यात्समर्थयेच्च केवलं भेदमिति । किञ्च केवलभेदे स्वरूप-विग्रहयोर्विभागो विच्छेदश्च कथं वारणीयः, इष्ट इति चेन्न, स्वाभाविकत्वकथनविरोधात् । तयोर्नित्यसम्बन्धाद्वारणीय,-इति चेत्-कश्चासौ नित्यसम्बन्धः, न संयोगः, तस्य क्रियाजन्यत्वाद्वि-भागावसानत्वाच्च । न च समवायः द्रव्ययोर्द्वयोः समवायेऽन्यतरस्य

जन्यत्वापत्तौ स्वरूपविग्रहयोर्द्वयोर्नित्यत्वसिद्धान्तव्याघातापत्तेः । तादात्म्यमेव नित्यसम्बन्ध इतिचेत्तर्हि समायातं विग्रहविग्रहि-णोरभेदेन, निरुक्तलक्षणाभेदस्यैव निरुक्तलक्षणतादात्म्यपदार्थ-त्वात् । नच स्वरूपाधीनसत्ताकत्वमात्रं विग्रहादिषु स्वरूपतादात्म्य-मितिवाच्यम् । तथापि प्राकृतकालयोः तादात्म्यात् विग्रहादीनां तादात्म्ये विशेषोवक्तव्यः । स्वरूपाधीन-सत्ताकत्वमात्रस्य तयोरपि स्वीकारेण विग्रहादीनामपि तावन्मात्रस्वीकारे, तयोर्जडयोरिव तेषामपि बहिरंगत्वापत्तेः, तथाच विग्रहादीनामेव पुनः पुनः नित्यसम्बन्धाभ्यासोऽपार्थक एव स्यादिति । एतेन स्वरूपगुणयोरपि अभेदो व्याख्यातः । तयोरपि विच्छेदभिया तादात्म्यापरपर्य्यायस्यैव नित्यसम्बन्धस्य शरणीकरणीयत्वात् । तस्मात्सुरद्रुमकृतां न केवलभेदव्यवस्थापने प्रवृत्तिः किन्तु निरुक्तभेदाभेदघटक-भेदव्यवस्थापने एवेति न विरोधः ।

यहाँ पुनः यह बात ध्यान देने योग्य है कि--

यदि कहें कि श्रुत्यन्त सुरद्रुम ग्रन्थ में आचार्य ने ''लभ्य एव रसमूर्तिमान् भवान्'' इस पद्य की व्याख्या के स्वरूप और विग्रह में अभेद का निराकरण भेद की स्थापना से स्वरूप विग्रह में अभेद प्रतिपादन युक्त नहीं है तो यह नहीं कह सकते, वहाँ अत्यन्त अभेद के प्रतिषेध एवं पूर्व अंश में प्रतिपादित विलक्षण भेद स्थापना में ही आचार्य का तात्पर्य है । जो आचार्य जड पदार्थ प्राकृत एवं काल के भी ब्रह्म के साथ भेदा-भेदवादी हैं, वह कैसे अत्यन्त अन्तरङ्ग स्वरूप और विग्रह में ही अभेद का खण्डन करेंगे और केवल भेद का समर्थन करेंगे । दूसरी बात केवल भेद मानने पर तो स्वरूप और विग्रह में विभाग और विच्छेद का भी प्रसङ्ग आ जायेगा, उसका निवारण कैसे करेंगे ? कहेंगे इसे इष्ट मान लेंगे तो ऐसा नही कह सकते, तब तो स्वाभाविकत्व कथन का विरोध हो जायेगा, कहेंगे-स्वरूप विग्रह में नित्य सम्बन्ध है, इससे उसका निवारण हो जायेगा, तो हम पूछेंगे-उनका वह नित्य सम्बन्ध कौन है ? संयोग

नहीं कह सकते, संयोग क्रिया जन्य होता है और उनका अवसान भी विभाग है । समवाय भी नहीं कह सकते, दो द्रव्यो में समवाय मानने पर एक में जन्यत्व की आपत्ति होने से स्वरूप और विग्रह दोनों में नित्यत्व सिद्धान्त का व्याघात होगा, कहें कि तादात्म्य ही नित्य सम्बन्ध मान लेंगे-तबतो विग्रह विग्रही में अभेद हो ही गया-पूर्व प्रदर्शित अभेद ही तादात्म्य पदार्थ है । यदि कहें कि स्वरूपाधीन सत्ताकत्व मात्र ही विग्रह आदि में तादात्म्य है तो ऐसा नहीं कह सकते, फिर भी प्राकृत और काल के तादात्म्य से विग्रह आदि के तादात्म्य में कोई विशेषता कहनी पड़ेगी-स्वरूपाधीन सत्ताकत्वमात्र तादात्म्य तो प्राकृत और काल में भी स्वीकार किया गया है-एतावन्मात्र तादात्म्य यदि विग्रह विग्रही (स्वरूप और विग्रह) मानें तब तो उन दोनों जड़ो की तरह विग्रह आदि में बहिरङ्गत्वापत्ति होगी फिर तो विग्रह आदि में ही नित्य सम्बन्ध का अभ्यास व्यर्थ ही होगा । इसी से स्वरूप और गुण का भी अभेद व्याख्यात हो गया-इन दोनों में भी विच्छेद के भय से नित्य सम्बन्धाभिन्न तादात्म्य ही स्वीकार करना पड़ेगा । इसलिए श्रुत्यन्त सुरद्रुम ग्रन्थकार के भी केवल भेद व्यवस्थापन में तात्पर्य नहीं है । अपितु पूर्व प्रदर्शित भेदाभेद घटक भेद की स्थापना में ही तात्पर्य है-इसलिये कोई विरोध नहीं ॥११-१॥

(११-२)

अपिच प्रपन्नसुरतरुमञ्जर्यां प्रपन्नकल्पवल्लीव्याख्यायां श्रीसुन्दरभट्टपादैः स्पष्टमेव विग्रहविग्रहिणोरैकात्म्यं निरूप्यते- तथाच तत्रत्यग्रन्थसन्दर्भः-(पृ.११ पं.-१९) ''परमयोगिध्येय-सच्चिदानन्दविग्रहः'' (इति। पृ.१२ पं. १) ''विग्रहश्चोक्त-लक्षणगुणाश्रय आप्रणखात्प्रकाशानन्दरूपोऽप्राकृतवस्तु'' इति प्रतिज्ञाय-''बुद्धिमनोमान्'' इत्यादिना भौतिकं प्रत्याख्याय-मौद्गलसहिताश्रुतिव्याखयानेन निरूपयति-''किमात्मिका खल्वियंव्यक्ति'' रिति भौतिकत्वमाशङ्क्योत्तरयति-''भग-वदात्मिकैषा भगवतोव्यक्तिः । यदात्मको भगवाँस्त-

दात्मिकैवैषा । किमात्मकश्च भगवान् ? ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मकः शक्त्यात्मकः । यथाऽङ्गारः खादिरः शाल्मलो वा सुदीप्तः सर्वतोऽग्निरेव स्यात् । यथा वा सुवर्णपिण्डो निघृष्यमाणः सर्वतः सुवर्णमेव स्यात् । यथा प्रासाद आलोक्यमानः सर्वतो दशर्यनीय एव स्यात् एवं भगवान् सर्वतो ज्ञानमेव सर्वत ऐश्वर्यमेव सर्वतः शक्तिरेव यदिच्छेत्तद्भवेत् ''इत्यादयोमौद्गलसंहितायामाम्नाताः श्रुतयः'' इति । अत्र हि स्फुटं स्वरूपविग्रहयोरैकात्म्यं वक्ति नहि केनाप्यपलपितुं सुधिया शक्यम्। अत्र हि भगवत्पदेन स्वरूपं, व्यक्तिपदेन विग्रह-संस्थानं स्फुटं विवक्षितम् । तयोः-''यदात्मको भगवान् तदात्मिकैषा'' इति स्फुटमैकात्म्यं वक्ति नहि केनापि सुधियाऽपलपितुं शक्यम् । तथा किन्तावद्भगवत्स्वरूपं यदेव विग्रहसंस्थानमिति स्वयमेव प्रश्नमुत्थाप्यव्याख्याय ज्ञानैश्वर्य्यशक्त्यादिकः सर्वमेव स्वरूपधर्मविग्रहेप्यतिदिशति तेनापि निश्चितं स्वरूपविग्रहयो-रैक्यमुक्तं भवति, नैतद्भेदे संभवति ।

ब्रह्मस्वरूपलक्षणं सच्चिदानन्दत्वं तु ''परमयोगि-ध्येयसच्चिदानन्दविग्रहः'' इत्यंशेन पूर्वमेव दर्शितम्। इति ।

प्रपन्नकल्पवल्ली की व्याख्या प्रपन्नसुरतरुमञ्जरी में श्रीसुन्दरभट्टा-चार्यपाद ने विग्रह-विग्रहि में स्पष्टरूप में ऐक्यात्मका निरूपण करते हैं- जैसा कि वहाँ का ग्रन्थ संदर्भ है (पृ. ११ नं.१६) ''परमयोगिध्येय-सच्चिदानन्दविग्रहः'' इति (पृ. १२ पं. १) विग्रहश्चोक्तलक्षणगुणाश्रय आप्रणखात् प्रकाशानन्दरूपोऽप्राकृतवस्तु'' ऐसी प्रतिज्ञा करके ''बुद्धि-मनोमान्'' इत्यादि ग्रन्थ से भगवद्विग्रह में भौतिकत्व का प्रत्याख्यान करके मौद्गल संहिता की श्रुति के अनुसार निरूपण करते हैं--''किमा-त्मिकाखल्वियंव्यक्तिः'' इस अंश से भगवद्विग्रह में भौतिकत्व की आशंका करके उत्तर देते हैं--''भगवदात्मिकैषा भगवतोव्यक्तिः । यदा-त्मको भगवाँस्तदात्मिकैवैषा । किमात्मकश्च भगवान् ? ज्ञानात्मकः

ऐश्वर्यात्मकः शक्त्यात्मकः । यथाऽङ्गारः खादिरः शात्मलो वा सुदीप्तः सर्वतोऽग्निरेवस्यात् । यथा वा सुवर्णपिण्डो निघृष्यमाणः सर्वतः सुवर्णमेव स्यात् । यथा प्रासाद आलोक्यमानः सर्वतोदर्शनीय एव स्यात् एवं भगवान् सर्वतो ज्ञानमेव सर्वतऐश्वर्यमेव सर्वतः शक्तिरेव यदिच्छेत्तद्भवेत्'' इत्यादि श्रुतियाँ मौद्गल संहिता में पठित हैं । इन श्रुतियों में भगवान् के स्वरूप और विग्रह में ऐक्यात्मका प्रतिपादन है । इसका कोई भी विद्वान् अपलाप नहीं कर सकता । यहाँ भगवत् पद से स्वरूप तथा व्यक्तिपद से विग्रह रूपी संस्थान स्पष्ट विवक्षित है और उन दोनों में ''यदात्मको भगवान् तदात्मिकैषा'' यह श्रुति स्पष्ट ऐक्यात्मका प्रतिपादन करती है । जिसका कोई भी विद्वान् अपलाप नहीं कर सकता । तथा पुनः 'किन्तावत् भगवत् स्वरूपम् ? यदेव विग्रहसंस्थानं अर्थात् भगवान् का स्वरूप क्या है ? जो विग्रह रूपी संस्थान भी है-इस प्रकार स्वयं प्रश्न उपस्थित कर ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति आदि समस्त स्वरूप धर्म विग्रह में अतिदेश करते है । इससे भी स्वरूप और विग्रह में एकता का निश्चय होता है-जो भेद में संभव नहीं है । ब्रह्म का स्वरूप लक्षण सच्चिदानन्दत्व तो परमयोगीध्येय सच्चिदानन्दविग्रहः इस अंश से पहले ही दिखा दिया है ॥११-२॥

(११-३)

एवमेव वेदान्तरत्नमञ्जूषायामपि--''कमलेक्षणम्'' इत्यस्य व्याख्याने ''आनन्दरूपममृतं यद्विभाति'' इति विग्रहस्य आनन्दरूपतामुक्त्वा-''यदात्मकोभगवाँस्तदात्मिकाव्यक्तिः किमात्मकोभगवान् ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मकः'', विश्वतश्च-क्षुरितिविश्वतो मुखः इतिः श्रुतेः'', इत्यन्तेन तदेवोच्यते । तस्मात्तात्त्विकदृष्ट्या पर्य्यालोच्यमाने-स्वरूपविग्रहयोरव्यतिरेक एव सिद्धान्तिनां सम्मतः । तथापि किञ्चिद्भेदस्वीकारः सौन्दर्य-माधुर्य्यादिविग्रहत्वनिरूपकधर्मकृत एव । तावन्मात्रेणैव विग्रहस्या-प्राकृततत्त्वताभिधानमपीति न कश्चिद्विरोधः इति ।

इसी प्रकार वेदान्तरत्नमञ्जूषा में भी 'कमलेक्षणम्' इस अंश

की व्याख्या में 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' इस वचन द्वारा विग्रह को आनन्दरूप कहकर ''यदात्मको भगवाँस्तदात्मिका व्यक्ति'' किमात्मको भगवान् ज्ञानात्मकः ऐश्वर्यात्मकः भगवान् ज्ञान स्वरूप तथा ऐश्वर्य स्वरूप है) कारण कि श्रुति का वचन है--विश्वश्चक्षुरुतो विश्वतोमुखः' इत्यन्त ग्रन्थ से वही बात कही गई है । इसलिए तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर स्वरूप और विग्रह में अभेद ही सिद्धान्तियों का सिद्धान्त है । फिर भी किञ्चित् मात्र भेद का स्वीकार सौन्दर्य, माधुर्य आदि विग्रह निरूपक धर्म कृत ही है और तावन्मात्र से ही विग्रह में अप्राकृत तत्त्वता का अभिधान है--इस प्रकार, किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं है ॥११-३॥

(११-४)

एतेनैव-धर्माणामपि स्वरूपादव्यतिरेकः समाहित एव, उक्तश्रुतिनिरुक्त्या सुन्दरभट्टपादेन स्वरूपस्यज्ञानशक्त्यैश्वर्य्यात्मकत्वस्योपपादनेन तयोः सुतरामभेदबोधनात् । तथापि धर्माणां धर्मतो ज्ञानशून्यत्वेन ज्ञानधर्मिणः स्वरूपात्किञ्चिद्भेदोऽपि इष्ट एव । तत एव स्वरूपधर्मयोर्भेदाभेदौ धर्माणामचेतनत्वं चेति । अभेदश्चात्रप्रबन्धे भेदाविरोधिनिरुक्ततादात्म्यलक्षण एव । एवं भेदोऽपि अभेदाऽविरोधिनिरुक्तवैलक्षण्यप्रतीतिजनकनिरुक्त-विशेषतारूप एवेति-सदैव स्मर्तव्यम् । एकत्वमप्यभेद एवेत्युक्त-मेवेति ।

इसी से भगवदीय धर्मों को भी भगवत् स्वरूप ऐक्यभिन्नता का समाधान हो जाता है । उक्त श्रुति वचन द्वारा श्रीसुन्दरभट्टपाद ने स्वरूप के ज्ञान, शक्ति तथा ऐश्वर्यात्मिकत्व के उपपादन से उन दोनों में स्वयमेव अभेद का बोधन किया गया-फिर भी धर्मों के धर्मभूत ज्ञानशून्यत्व होने से ज्ञान धर्मी स्वरूप से किञ्चिद् भेद भी इष्ट ही है । इसी से स्वरूप एवं धर्म में भी भेदाभेद तथा धर्मों में अचेतनत्व भी सिद्ध होता है । इस ग्रन्थ में अभेद भेदाविरोधी उक्त तादात्म्य स्वरूप ही है । इसी प्रकार भेद भी

अभेदाविरोधी पूर्वोक्त प्रकारक वैलक्षण्य प्रतीतिजनक उक्त भावरूप अभावरूप वा धर्मविशेष विशेषता स्वरूप ही है-इसे सदा स्मरण रखना चाहिये । एकत्व भी अभेद ही है ।।११-४।।

(११-५)

एवमेव, श्रीधामभूषणपरिकरपरिच्छदादीनामपि-विग्रहवदेव स्वरूपगुणशक्त्यादिभिः परमसाम्यमुक्तं सुन्दरभट्टाचार्यपादादिभि-रेव। तथाहि तत्रैव प्रपन्नसुरतरुमंजर्य्याम्-पूर्वोक्तरीत्या ''किमात्मि-कैषा भगवतोव्यक्तिः'' इत्यादिना 'परमं साम्यमुपैति' इत्या-दिना'' इत्यन्तेन । स्वरूपविग्रहयोः परमसाम्यमुक्त्वा ''उक्तमेव शास्त्रं लक्ष्यादिविग्रहे, नित्यमुक्तानां तत्परिजनपरिवारभूषणायुध-चामरव्यजनादीनामप्राकृतत्वे हेयसम्बन्धशून्यत्वे च प्रमाणत्वेनानु-सन्धेयम्। साम्यपदप्रयोगात् तत्रत्यानां वस्तुजातानां तत्साम्या-दिति'' इत्युक्तम्। तेन विग्रहगुणधर्मादीनामिव श्रीधामभूषण-परिकरपरिच्छदादीनामपि स्वरूपज्ञानैश्वर्य्यशक्त्यादिना भगवत्स्व-रूपाभिन्नत्वमुक्तं भवत्येव यदात्मको भगवाँस्तदात्मिकाव्यक्तिः इत्यादीनामेव वाक्यानां उक्तशास्त्रपदार्थत्वात् । तदेव च स्पष्टयति-''तत्र भूषणानि'' इत्यादिना-''आयुधानि'' इत्या-दिना-श्रीपरिचारिकाश्चेत्यादिना वैकुण्ठस्वरूपं चेत्यादिना चेति। तत्र तत्र स्वरूपगुणशक्त्यादिविशेषणेन चेति । एवं पञ्चकाला-नुष्ठानमीमांसायामपि-श्रीसुन्दरभट्टपादैः तथैव निरूपितम्, यथा-

''षड्गुणस्य समुदायः षाड्गुण्यं तेन संयुतम्'' (पृ.२१ पं.१३) ''सत्यज्ञानानन्दात्मकः'' ''आदित्यवर्णं तमसः पर-स्तात्'' (पृ.२५पं.१७) इत्यादिना-एवमेव अर्चिरादिपद्धतौ श्रुत्य-न्तसुरद्रुमकृद्भिरपि-पृ.२७ पं.८-प्रकाशानन्दरूपम् । पृ.२७ पं. १४-''षाड्गुण्यं तेन संयुतम्'' । पृ. ३१ पं. २५। ''सत्यज्ञाना-नन्दात्मकः'' ''आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्''-इत्यादिना श्रीसुन्दरभट्टाचार्य्यवदेव निरूपितम् । अन्यच्च-तत्रैव (२५पृ.३ पं.)

''चिद्घनं जयति'' (श्री कृ.स्त.) इति व्याख्यापयता ''तच्च ज्ञानानन्दात्मकं प्रमाणातीतत्वात्'' इत्युक्तम् । अग्रे च २५ पृ.१५ पं.....''अतश्च श्रीमद्वृन्दावनादीनां नित्यत्वचिदानन्दमयत्वेऽपि-भगवत्क्रीडार्थं कुञ्जोपकुञ्जसभासरःसरित्प्रासादवनोपवनवापीकूपतडागादिद्रुमगुल्मलतौषध्यादिरूपत्वं बोध्यम्। तथाहुः श्रीमत्पद्मपादाचार्य्यचरणाः--

कुञ्जगुल्मादिरूपत्वं श्रीमद्वृन्दावनस्य यत् ।
कृष्णक्रीडाकृते ज्ञेयं चिद्घनस्य विचित्रता ।। इति

तथाऽग्रे स्फुटी भविष्यति'' इति भगवद्धाम्नः सच्चिदानन्दघनत्वं निरूपितम् । एवमन्यैरप्याचार्य्यैः'' तस्मात् श्रीविग्रहधामभूषणपरिकरपरिच्छदादीनां सच्चिदानन्दरूपत्वं, तेन च ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' इति ब्रह्मस्वरूपलक्षणयुक्तत्वं ब्रह्मस्वरूपगुणैश्वर्य्यादिमत्त्वं तदंशेन ब्रह्मस्वरूपेण सहाभेदश्च इष्ट एव । भेदस्तु स्वतन्त्रसत्त्वेन जगज्जन्मादिकर्तृत्वादिना चेति ।

इसी तरह श्रीधाम, भूषण, परिकर, परिच्छद आदि का भी भगवद् विग्रह की तरह ही स्वरूप, गुण, शक्ति आदि के साथ परम साम्य है, ऐसा श्रीसुन्दरभट्टाचार्यपाद आदि आचार्यों ने ही कहा है । जैसा कि वहीं प्रपन्नसुरतरुमञ्जरी में पूर्व उक्त रीति के अनुसार कहा है--''किमात्मिकैषा भगवतो व्यक्तिः'' इत्यादि ग्रन्थ से प्रारम्भ कर 'परमं साम्यमुपैति' इत्यन्त ग्रन्थ तक । (स्वरूप और विग्रह में परम साम्य बतलाकर) उक्त शास्त्र ही श्रीलक्ष्मी आदि के विग्रह तथा नित्यमुक्त उनके परिजन, परिवार, भूषण, आयुध, चामर, व्यजन आदि के अप्राकृतत्व एवं हेय सम्बन्धशून्यत्व में प्रमाण रूप में अनुसन्धेय है । ''परमं साम्यमुपैति'' साम्य शब्द के प्रयोग से वहाँ के सम्पूर्ण वस्तुओं में तत्साम्यता है ।। इससे विग्रह गुण तथा धर्म आदि की तरह श्रीधाम, भूषण, परिकर, परिच्छद आदि में भी स्वरूप ज्ञान, ऐश्वर्य शक्ति आदि से भगवत् स्वरूपाभिन्नत्व भी उक्त ही होता है।

''यदात्मको भगवाँस्तदात्मिका व्यक्तिः'' इत्यादि वाक्यों में ही उक्त शास्त्र पदार्थत्व है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं--''तत्र भूषणानि'' इत्यादि ''आयुधानि'' इत्यादि ''श्रीपरिचारिकाश्च'' इत्यादि तथा वैकुण्ठस्वरूपंच' इत्यादि ग्रन्थों द्वारा और स्वरूपगुण शक्त्यादिविशेषणेन च' इत्यादि ग्रन्थ द्वारा । इसी प्रकार 'पंचकालानुष्ठान मीमांसाः' ग्रन्थ में भी सुन्दरभट्टपाद ने उसी प्रकार निरूपण किया है । जैसा कि वहाँ के वचन है-''षड्गुणस्य समुदायः षाड्गुण्यं तेन संयुतम्'' (पृ.२१ पं.१३) 'सत्यज्ञानानन्दात्मकः' 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (पृ.२५ पं.१७) इत्यादि ग्रन्थों द्वारा । इसी प्रकार अर्चिरादि पद्धति ग्रन्थ में 'श्रुत्यन्तसुरद्रुम' ग्रन्थकार ने भी (पृ. २६ पं. ८) 'प्रकाशानन्द रूपम्' (पृ.२७ पं.१४) षाड्गुण्यं तेन संयुतम् (पृ.३१ पं.२५) इत्यादि वचनों द्वारा श्रीसुन्दरभट्टाचार्य की तरह ही निरूपण किया है । उसी ग्रन्थ में और भी (पृ.२७ पं.२) में चिद्घनं जयति' (श्रीकृ.स्त.) की व्याख्या करते हुये 'तच्च ज्ञानानन्दात्मकं प्रमाणातीत-त्वात्' ऐसा कहा है । आगे भी (पृ.२५ पं.१५) में ''अतश्च श्रीमद्-वृन्दावनादीनां नित्य चिदानन्दमयत्वेऽपि भगवत्क्रीडार्थं कुञ्जोपकुञ्ज सभा सरः सरित् प्रसादवनोपवनवापीकूपतडागादिद्रुमगुल्मलतौषध्यादि-रूपत्वं बोध्यम् ।' इसी बात को श्रीमत् पद्मपादाचार्यचरण ने भी कहा है।

कुञ्जगुल्मादिरूपत्वं श्रीमद्वृन्दावनस्य यत् ।
कृष्णक्रीडाकृते ज्ञेयं चिद्घनस्य विचित्रता ॥

इत्यादि प्रमाणों द्वारा श्रीवृन्दावनधाम एवं उसके गुल्म, लता, वन, उपवन सभी में सच्चिदानन्दघनत्व एवं ब्रह्म (श्रीकृष्ण) से भिन्ना-भिन्नत्व का समर्थन सम्प्रदाय में अनेक पूर्वाचार्यों द्वारा दिखाया गया है।

इसी प्रकार कई अन्य आचार्यों द्वारा श्री, श्रीविग्रह, धाम, भूषण, परिकर, परिच्छद आदि में सच्चिदानन्दघनत्व सिद्ध किया गया है । और इसी से ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म स्वरूप लक्षणयुक्तत्व तथा ब्रह्म के स्वरूप, गुण, ऐश्वर्य

आदि युक्तत्व एवं इस अंश से ब्रह्मस्वरूप के साथ धाम आदि का अभेद भी इष्ट बताया है। भेद स्वतन्त्र सत्वेन एवं जगज्जन्मादि कर्तृत्वेन है। अर्थात् धाम भूषण आदि सकल पदार्थों में सच्चिदानन्दघनत्वेन अभेद एवं स्वतन्त्र सत्त्व एवं जगज्जन्मादिकर्तृत्वेन भेद है। इस प्रकार भेदाभेद सिद्धान्त स्पष्ट है ऐसा बताया गया है ॥११-५॥

(११-६)

इदं त्विहावधेयम्-यद्यपि सर्वमेव भगवत्स्वरूपसाधर्म्यं तेषु तेषु, तदपि साधर्म्यं न तेषु तेषु तस्तिंस्तस्मिन्वा अन्यदन्यत्, घटादौ रूपरसादिवत्। किन्तु भगवत्स्वरूपगता एव गुणशक्त्याद्याःसर्वे धर्माः तेष्वपि पर्य्याप्ताः, स्वरूपं तु तेषामपि सच्चिदानन्दघनमेव, इदमित्थतया परिच्छेत्तुमशक्यं च,। तेन तेषां भगवत्स्वरूपादभिन्न-त्वमेव। तथापि स्वतन्त्रसत्त्वन्तु भगवत्स्वरूपे एव सुरक्षितं नान्यत्र अन्यत्रतु सर्वत्र-भगवत्स्वरूपसत्ताधीनसत्ताकत्वमेव, तेन स्वरूप एव निरंकुशसर्वैश्वर्य्यपरिपूर्णत्वं जगत्कर्तृत्वमोक्षदातृत्वादिकं च नान्यत्र इत्येव धर्मकृतो महान् भेदः। तत एव भगवत्स्वरूपमेव निरतिशयस्वरूपगुणमाहात्म्यैश्वर्य्यजगत्कर्तृत्वमोक्षदातृत्वस्वतन्त्र-सत्ताश्रयं परमं ब्रह्म अन्यत्सर्वं तदधीनसत्ताकस्वरूपगुणमाहात्म्यैश्वर्य परतन्त्रसत्ताश्रयं ततोभिन्नं चेत्युच्यते इति संक्षेपः।

यहाँ ज्ञातव्य है कि यद्यपि उन-उन पदार्थों में सब ही भगवत् स्वरूप साधर्म्य है, वह साधर्म्य भी उन-उन पदार्थों एवं तत् तत् पदार्थ में भिन्न भिन्न नहीं है- घट आदि में रूप रस आदि की तरह, किन्तु भगवत् स्वरूपगतगुण, शक्ति आदि सभी धर्म उनमें पर्याप्त है, क्योंकि स्वरूप तो उन सबका भी सच्चिदानन्दघन ही है-उनका इदमित्त्थतया परिच्छेद अशक्य है-इसलिये उन सबमें भगवत् स्वरूप से अभिन्नता ही है, फिर भी स्वतन्त्र सत्ता भगवत् स्वरूप में ही सुरक्षित है, अन्यत्र नहीं-अन्यत्र तो भगवत्स्वरूप सत्ता के अधीन ही सत्ता है। इसलिये भगवत् स्वरूप में ही निरंकुश सर्वैश्वर्य परिपूर्णता है एवं जगत्कर्तृत्व तथा मोक्षदातृत्व भी है-

अन्यत्र नहीं, यही धर्मकृत महान् भेद है । इसलिए भगवत् स्वरूप ही निरतिशय स्वरूप, गुण माहात्म्य, ऐश्वर्य जगत्कर्तृत्व, मोक्षदातृत्व तथा स्वतन्त्र सत्ता का आश्रय परब्रह्म परमात्मा ही है-अन्य सभी भगवत् अधीन सत्ताक स्वरूप, गुण, माहात्म्य, ऐश्वर्य, परतन्त्र सत्ताश्रय है अतएव उससे भिन्न भी है-ऐसा कहा जाता है-इति संक्षेप ॥११-६॥

(११-७)

श्रियोभगवतश्चाभिन्नत्वे-"साच वक्ष्यमाणाचिन्त्यानन्तनिरतिशयभगवत्स्वरूपगुणशक्त्याद्यनुरूपिणी" "बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म" इति श्रुतेर्यथा स्वरूपेण गुणशक्त्यादिभिश्च बृहत्तमो वेदान्तप्रतिपाद्यः 'सदा पश्यन्ति सूरयः' इति श्रुतेः नित्यमुक्तजनतानुभूयमानो भगवान्-श्रीपुरुषोत्तमः, तथैषापीति' "पत्नीति वचनात् वक्ष्यमाणानां भगवदीयगुणानामत्रातिदेशोऽवगम्यते वक्ष्यमाणगुणादयोप्यत्रानुसन्धेयाः" इत्यादि प्रपन्नसुरतरुमञ्जर्य्यां पृ.१-२॥ पं.१०।११ श्रीसुन्दरभट्टाचार्य्यवाक्यानि । पञ्चकालानुष्ठानमीमांसायां पृ.२४ पं.७ रमया क्रीडन्तमिति-स्वानुरूपसच्चिदानन्दस्वरूप-साम्यातिशय-शून्यासंख्येयज्ञानैश्वर्य्यसौशील्यवात्सल्यकारुण्यदयाशरण्यत्वादिनिरवद्यकल्याणतम-गुणशक्त्यादिकया नित्याऽनपायिन्याऽशरणशरणभूतया भगवत्या देव्या रमया सार्द्धं क्रीडन्तं लीलानन्दरसाविष्टम्" इत्यादिवाक्यानि-द्रष्टव्यानि ।

श्रीराधा एवं भगवान् श्रीकृष्ण की अभिन्नता में पूर्वाचार्यों के निम्नाङ्कित वचन द्रष्टव्य हैं--सर्वप्रथम प्रपन्नसुरतरुमञ्जरी के आचार्यप्रवर श्रीसुन्दरभट्टाचार्यजी महाराज के वाक्य देखे--"सा च वक्ष्यमाणाचिन्त्यानन्तनिरतिशयभगवत्स्वरूपगुणशक्त्याद्यनुरूपिणी" "बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म' इस श्रुति के अनुसार जैसे स्वरूप से तथा गुण शक्ति आदि से बृहत्तम सर्वोपरि परमात्मा हैं तथा "सदा पश्यन्ति सूरयः" इस श्रुति के अनुसार जैसे परमात्मा पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) सदा नित्यमुक्त

जनताओं द्वारा अनुभूयमान होते हैं, उसी प्रकार यह श्रीराधा भी हैं । 'पत्नी' इस वचन से समस्त भगवदीय गुणों का श्रीराधा में भी अतिदेश ज्ञात होता है । यहाँ भगवान् के वक्ष्यमाण गुणों का अनुसंधान करना चाहिये'' इत्यादि ।

पञ्चकालानुष्ठान मीमांसा ग्रन्थ (पृ. १४ पं. ७) 'रमया क्रीडन्तं' पद की व्याख्या करते हुये कहा है कि स्वानुरूप सच्चिदानन्दस्वरूप, साम्य तथा अतिशयशून्य, असंख्येय ज्ञान, ऐश्वर्य, सौशील्य, वात्सल्य, कारुण्य तथा शरण्यत्व आदि निरवद्य कल्याणतम गुणशक्ति आदि विशिष्ट, पुरुषोत्तम प्रभु की नित्य अनपगामिनी, अशरण शरण स्वरूपा भगवती देवी रमा (राधा) के साथ क्रीडा करते हुये लीलाविष्ट भगवान् को ''ऐसा अर्थ किया है--(इस वाक्य के द्वारा पञ्चकालानुष्ठान मीमांसा ग्रन्थ में आचार्य ने श्रीराधाकृष्ण युगल प्रभु के सर्वथा ऐक्य का समर्थन किया है) ॥११-७॥

(११-८)

तथा उदुम्बर संहितायां चतुर्थव्रतप्रकरणे--

''कल्लोलकौ वस्तुत एकरूपकौ राधामुकुन्दौ समभाव-भावितौ । यद्वत्सुसंपृक्तनिजाकृती ध्रुवावाराधयामो व्रजवासिनौ सदा ॥'' इति स्ववाक्येन तथा श्रीकृष्ण-कुमार-नारद-महादेवादि-वाक्यैः--

''योऽहं स राधा किल राधिका तथा ।
या साहमेवाद्यतमः सनातनः'' ।

''श्रीराधिकाकृष्णयुगं सनातनं नित्यैकरूपं विगमादिवर्जितम्''।
यद्वज्जलोल्लोलयुगं मिथोरतम्' सद्गोचरं यावदवाप्नुयान्नतु ।
संसेवितुं तत्र न भेदमाचरेत्' 'दोषाकरत्वाद्धि भिदानुवर्तिनाम्'॥
'विरोधी स्यादेकज्योतिर्विभेदकृत्' 'एतैर्दोषैर्विलिप्येत तेजोभेदान्महेश्वरि ।
यस्माज्ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधवरूपधृक् ॥''

तथा- "यः कृष्णः सापि राधा या राधा श्रीकृष्ण एव सः ।
अनयोरन्तरदर्शी संसारान्न विमुच्यते ॥"

'राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका विभ्राजते जनेषु ।
योऽनयोः पश्यते भेदं न मुक्तः स्यात्स संसृतेः ॥"
"देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता ।
सर्वलक्ष्मीः सर्वकान्तिः सर्वसम्मोहिनी परा ॥"

इत्यादि-ब्रह्मसंहिता-ऋक्परिशिष्टश्रुति-बृहद्गौतमीय-तन्त्रादिवाक्यैरन्यैर्वाक्यैश्च श्रीमदाद्याचार्य्यैर्निम्बार्कमहामुनीन्द्रैरेव-श्रियः पुरुषोत्तमस्य चान्योन्यं नितरामभेदउक्तः उदुंबराचार्यं प्रति इति ।

इसी प्रकार उदुम्बरसंहिता के चतुर्थ व्रत प्रकरण में--

"कल्लोलकौ वस्तुत एक रूपकौ राधामुकुन्दौ समभावभावितौ। यद्वत् सुसम्पृक्त निजाकृती ध्रुवावाराधयामो व्रजवासिनौ सदा" इस अपने वचन द्वारा श्रीउदुम्बराचार्य ने श्रीराधामाधव युगलकिशोर को सर्वथा एक माना है । इसी प्रकार श्रीकृष्ण, कुमार, नारद तथा महादेव (श्रीशंकर) आदि के वाक्यों द्वारा भी इन दोनों प्रियाप्रियतम श्रीराधामधव में सर्वथा अभेद सिद्ध किया गया है । जैसा कि क्रमशः इनके वचन हैं--

"योऽहं स राधा किलराधिका तथा या साहमेवाद्यतमः सनातनः ।"
"श्रीराधिकाकृष्णयुगं सनातनं नित्यैकरूपं विगमादिवर्जितम् ॥
"यद्वज्जलोल्लोलयुगं मिथोरतम्' सद्गोचरं यावदवाप्नुयान्नतु ।
संसेवितुं तत्र न भेदमाचरेत्' 'दोषाकरत्वाद्धि भिदानुवर्तिनाम् ॥"
"विरोधी स्यादेकज्योतिर्विभेदकृत्' 'एतेर्दोषैर्विलिप्येत तेजोभेदान्महेश्वरि।
यस्माज्जोतिरभूद्द्वेधा राधामाधवरूपधृक् ।"

तथा- "यः कृष्णः सापि राधा या राधा श्रीकृष्ण एव सः ।
अनयोरन्तरदर्शी संरारान्न विमुच्यते ॥"
'राधयामाधवोदेवो माधवेनैवराधिका विभ्राजते जनेषु ।
योऽनयोः पश्यते भेदं न मुक्तः स्यात्स संसृतेः ॥"

''देवीकृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता ।

सर्वलक्ष्मीः सर्वकान्तिः सर्व सम्मोहिनी परा ॥ इत्यादि

ब्रह्मसंहिता, ऋक्परिशिष्ट श्रुति, बृहद्गौतमीयतन्त्र आदि के वाक्यों तथा अन्यान्य वाक्यों द्वारा श्रीमद्माद्याचार्य श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र पाद ने ही अपने साक्षात् शिष्य श्रीउदुम्बराचार्य के प्रति श्रीराधा-माधव युगलकिशोर में परस्पर अत्यन्त अभेद (सर्वथाअभेद) की बात कही है ॥११-८॥

(११-९)

तस्मान्नाण्वपि तयोः स्वरूपांशे स्वरूपधर्मे वा भेदान्त-र्भावः। विग्रहांशेऽपि स्त्रीत्वपुँस्त्वतदनुबन्धिधर्मकृत एव सः । नवा श्रियाः स्वरूपांशे परतन्त्रसत्ताश्रयत्वं सर्वथा भगवता सह सदैकात्म्यात्, अन्यथा जीवत्वापत्तेश्च। तस्य पूर्वाचार्याणामनभि-मतत्वाच्च । विग्रहांशेतु भगवद्विग्रहवदेव । तथापि श्रियः पुरुषोत्त-मतन्त्रता तत्पत्नीत्वान्नित्यसिद्धपत्नीत्वधर्मकृत एव नित्यसिद्धः । स्वरूपधर्मादिकंत्वेकमेवोभयत्र पर्य्याप्तं नतु-भिन्नंभिन्नम् एकात्म-त्वादेव इति-अवधेयम् ।

इसलिये अणुमात्र भी प्रियाप्रीतम युगलकिशोर में स्वरूपांश तथा धर्म में (गुण आदि में) भेद नहीं । विग्रह अंश में भी स्त्रीत्व पुंस्त्व तथा तदनुकूल धर्मकृत ही भेद है । ना ही श्रीजी में स्वरूपांश के परतन्त्र सत्ताश्रयत्व है क्योंकि उनका सर्वदा सर्वथा भगवान् के साथ ऐकात्म्य है-ऐसा न मानने पर उनमें जीवत्वापत्ति होगी-जो कि पूर्वाचार्यों का कथमपि अभिमत नहीं है । विग्रह अंश में तो भगवान् के विग्रह के समान ही समझना चाहिये । तथापि श्रीजी में श्रीपुरुषोत्तमाधीनता उनको पत्नी होने के नाते नित्यसिद्ध पत्नीत्व धर्मकृत ही है जो नित्यसिद्ध है । स्वरूप धर्मत्व आदि तो दोनों का एक ही है जो उभयत्र पर्याप्त है । न कि भिन्न भिन्न-चूंकि दोनों सर्वथा एक तत्त्व हैं । ऐसा सोचना चाहिये ॥११-९॥

(११-१०)

कालप्राकृतविषयकविप्रतिषेधपरिहारार्थं तु- "वेदान्तकौस्तुभप्रभायाम्--

"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।"

"आत्मकृतेः परिणामात् ।" इति सूत्रे--

"तदनन्यत्वाधिकरणं-"

"विपर्ययाधिकरणं च द्रष्टव्यानि ।"

पूर्वाचार्य्यान्समाश्रित्य द्वैताद्वैतं विवेचितम् ।
तथापि येषां सन्देहो यत्र तच्चिंत्यतां स्वयम् ॥
भगीरथस्य विप्रस्य कृतिरेषा प्रमोदताम् ।
श्रीनिम्बार्कपदं श्रित्वा श्रीकृष्णपदमाश्रिता ॥
सुदर्शनो द्वापरान्ते कृष्णाज्ञप्तो बभूव ह ।
निम्बादित्यमुनीन्द्राख्यो सनन्-नारदशासितः ॥ इति

काल, प्राकृत विषयक विप्रतिषेध के परिहारार्थ तो वेदान्त कौस्तुभप्रभा के 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्' "आत्मकृतेः परिणामात्" ये दोनों सूत्र तथा 'तदनन्यत्वाधिकरण' एवं विपर्ययाधिकरण देखने चाहिये ॥११-१०॥

(१२)

एवं चित्पदार्थस्य--जीवस्यापि न ब्रह्मणा सह इतरेतरं वा भेदः इत्युक्तमेव । तथापि किंचिदधिकं वक्तुं पुनरुच्यते । तत्र जीवानां भगवदात्मकत्वस्य भगवतोऽपि शक्त्या ह्यात्मकत्वस्य च पूर्व निरूपितत्त्वात् तयोरितरेतरतादात्म्यान्नतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकभेदसंभवः । न चाणुत्वमहत्त्वादिकृतोभेदः स्यादितिवाच्यम् "अणोरणीयान् महतोमहीयानिति" श्रुतेः तत्रापि महत्त्वाविरुद्धाणुत्वस्य स्वीकारात् न तत्राणुत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदसम्भवः । नच जीवगतमहत्त्वविरुद्धाणुत्वकृतभेदःस्यादितिवाच्यम् । जीवेऽपि ज्ञानधर्मतोमहत्त्वेन जीवगतस्याप्यणुत्त्वस्य महत्वाविरोधित्वात् ।

नच तथापि स्वरूपगतत्वेन विरोधोस्त्येवेतिवाच्यम् । स्वरूपेऽपि अणुत्वाविरोधिमहत्त्वयोग्यताया सत्त्वात् एवं स्वतंत्रसत्ताश्रयत्त्वेन परतंत्रसत्ताश्रयत्वेनापि च न भेदः । जीवेऽपि स्वतंत्रसत्ताश्रयत्वयोग्यतायाः परतंत्रसत्त्वाविरोधिन्या विद्यमानत्वात् भगवतोऽपि स्वातंत्र्या-विरोधिभक्तपारतंत्र्ययोग्यताया विद्यमानत्वाच्च । किंबहुना भगवच्छक्तिषु सर्वास्वपि परम्पराविरुद्धाया सर्वयोग्यतायाः सर्वदा एव स्वभावत एव विद्यमानत्वान्न कथं चिदपि भेदसंभवः । तथापि सर्वविधयोग्यतायाः नित्यसिद्धभगवत्तंत्रत्वात्। यत्र यथा-मर्यादा तेन कृता तथैव ताः स्फुरन्ति इत्येव विशेषः स च न मुख्यभेदनिर्वाहकः । एतेनैवाज्ञत्वाल्पशक्तित्वादिकृतोऽपि भेदः परिहृतः । किंच जीवजड़ादिगततद्धर्माणामपि भगवदात्मकत्वेन भगवद्धर्मत्त्वान्न तत्कृतो भगवति भेदसंभवः, अणुत्वमहत्त्वादिधर्माणामपि परस्परं मुख्यभेदः तेनैव परिहृतः, तेषामपि स्वभावसांकर्य्ययोग्यताया निसर्गत एव सत्त्वात् । एवं जीवानां परस्परमपि नो मुख्यभेदसंभवः तेषां स्वरूपतो गुणतः सर्वथा समानत्वेन भेदनियामकप्रतियोगितावच्छेदकधर्माभावात् । तत एव स्वभावैक्यादीनां परस्परं तादात्म्याच्च । नानात्वं तु भेदाभावेऽपि जीवस्वरूपाणां सुखज्ञानादितद्गतधर्माणां च परस्परं पार्थक्यानुभवात् पार्थक्यगुणकृत एव । न च शांकरमते पार्थक्यं भेदइत्यनर्थान्तरम् निरुक्तदिशा भेदाभावेऽपि पार्थक्यानुभवस्य प्रमाणसिद्धत्वात् । अथवा पार्थक्यानुभवोऽपि तादात्म्याविरोधिवैलक्षण्याख्यशक्तिकृत एवेति स्मर्तव्यम् । सा च शक्तिः अविद्याभिन्ना नित्यसिद्धस्वाभाविकधर्मभूता एव । तेन विद्योदयानन्तरमपि तिष्ठत्येवेति न पार्थक्यानुभवस्य कदाचिदपि वाध इतिबोध्यम्। न च तद्गुणशक्त्यादिकृतभेदः स्यात् । भगवदीयानां गुणानां सर्वत्र पर्य्याप्तत्वेन तत्तद्गतगुणकृतभेदाभावात् । अतएव तेषां गुणानां भगवत्पारतंत्र्यं ''नान्योतोस्तिद्रष्टा'' इत्यादिश्रुतेः । अप्राकृतपदार्थेऽपि भगवन्नियम्यजीवत्वाप्राकृतत्वयोग्यतयोः सत्त्वात् तयोरपि न भेदः

अननुभवस्तु भगवदिच्छाविरहात् इत्युक्तमेव ।

इसी प्रकार चित् पदार्थ जीव का भी ब्रह्म के साथ तथा जीव का परस्पर भी भेद नहीं है, ऐसा पहले कहा ही है-तथापि इस विषय में कुछ अधिक बताने के लिए पुनः कहते हैं ।

पहले जीवों के भगवदात्मक तथा भगवान् के शक्त्याद्यात्मकत्व का निरूपण होने से उन दोनों में परस्पर तादात्म्य के कारण उनमें तादात्म्य सम्बन्धावाच्छिन्न प्रतियोगिताक अभावरूप भेद संभव नहीं है । यदि कहें कि जीव में अणुत्व एवं ब्रह्म में महत्त्व होने से तत्कृत भेद उभय में भेद हो जायेगा तो ऐसा नहीं कह सकते ''अणोरणीयान् महतो महीयान्'' इस श्रुति द्वारा ब्रह्म में महत्व से अविरुद्ध अणुत्व स्वीकार किया गया है। इसलिये ब्रह्म में अणुत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद संभव नहीं है । यदि जीव में महत्त्व विरुद्ध अणुत्व है उसमें महत्त्व नहीं है-इस तरह तो भेद होगा ? तो ऐसा भी नहीं हो सकता, जीव में भी ज्ञानरूप धर्मकृत महत्त्व होने से जीव गत अणुत्व भी महत्व का अविरोधी है । यदि कहें कि फिर भी स्वरूपगतत्वेन विरोधी है ही-तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वरूप में भी अणुत्व के अविरोधी महत्त्व की योग्यता का सद्भाव है । इसी प्रकार यह भी नहीं कह सकते कि ब्रह्म स्वतन्त्र सत्ताश्रय है और जीव परतन्त्र सत्ताश्रय-इस प्रकार स्वतन्त्र सत्ताश्रयत्वेन तथा परतन्त्र सत्ताश्रयत्वेन भेद होगा तो यह भी नहीं कहा जा सकता-क्योंकि जीव में भी परतन्त्र सत्त्वाविरोधी स्वतन्त्र सत्ताश्रयत्व योग्यता विद्यमान है । भगवान् में भी स्वातन्त्र्य के अविरोधी पारतन्त्र्य योग्यता विद्यमान है । अधिक क्या कहें भगवान् की सभी शक्तियों में भी परस्पर विरुद्ध समस्त योग्यता का सदा सर्वदा स्वभावतः एव विद्यमान है-इसलिये इनमें कथंचिदपि भेद संभव नहीं है । फिर भी सब प्रकार की योग्यता नित्य सिद्ध भगवत् अधीन ही है। किन्तु उन्होंने जहाँ जो मर्यादा की तदनुसार ही वे योग्यताएँ स्फुरित होती हैं--यही विशेषता है पर मुख्य भेद का निर्वाहक नहीं है । इसी कथन से जीव में अल्पज्ञत्व अल्पशक्तित्वकृत भेद का भी परिहार कर

दिया । इतना ही नहीं जीव, जगदादिगत तत् तत् धर्मों के भी भगवदात्मक होने से तत्कृत भेद भी भगवान् में संभव नहीं है । अणुत्व महत्त्व आदि धर्मों में भी परस्पर मुख्य भेद इसीसे खण्डित हो गया-उनमें भी स्वभाव सांकर्य की योग्यता स्वभाव से ही विद्यमान है । इसी प्रकार जीवों में परस्पर भी मुख्य भेद (तार्किक भेद) संभव नहीं । क्योंकि उनमें स्वरूप से तथा गुण से सर्वथा समानता होने के कारण उनके भेद नियामक प्रतियोगितावच्छेदक धर्म का अभाव है । उसी स्वभाव की एकता आदि के कारण उनमें परस्पर तादात्म्य है । नानात्व तो भेद के अभाव होने पर भी जीवों के स्वरूप एवं तद्गत सुख ज्ञान आदि तद्गत धर्मों में परस्पर, पार्थक्य के अनुभव से पार्थक्यगुण कृत ही है । यदि कहें कि शांकरमत में पार्थक्य एव भेद पर्यायवाची है-इनमें कोई भेद नहीं यह नहीं कह सकते, पूर्वोक्त प्रकारानुसार भेद के अभाव में भी पार्थक्य का अनुभव प्रमाणसिद्ध है । अथवा पार्थक्य का अनुभव भी तादात्म्य के अविरोधी वैलक्षण्याख्य-शक्तिकृत ही है, ऐसा स्मरण रखना चाहिये, वह शक्ति अविद्या नहीं किन्तु उससे भिन्न नित्यसिद्ध स्वाभाविक धर्मभूत ही है । इसलिये विद्या के उदयानन्तर भी रहता ही है। इस प्रकार पार्थक्य के अनुभव का कदापि भी बाध नहीं होता, ऐसा समझना चाहिये । उनके गुण शक्ति आदि प्रयुक्त भेद भी नहीं होगा क्योंकि भगवदीय गुण पर्याप्त होने से तत् तत् गुणकृत भेद का अभाव है । इसीलिए उन गुणों में भगवत् पारतन्त्र्य है, प्रमाण है, ''नान्योतोऽस्ति द्रष्टा'' इत्यादि श्रुति । अप्राकृत पदार्थ के भी भगवन्नियम्य जीवत्व तथा अप्राकृतत्व योग्यता के सद्भाव होने से उनमें भी (जीव-अप्राकृत में) भेद नहीं है । इसका अनुभव न होने तो भगवान् की इच्छा के न होने के कारण है यह भी कहा ही है ॥१२॥

(१३)

एवं प्राकृतपदार्थ-कालपदार्थयोरपि भगवता सह ताभ्यां सह वा भगवतश्च न मुख्यभेद इत्युक्तमेव। चेतनत्वजडत्वकृताभाव-स्य तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वविरहेण भेदत्वाभा-

वात् । कालप्राकृतयोरपि भगवदात्मकत्वेन भगवच्छक्तित्वेन भगवत्स्वरूपघटकत्वात्तद्गतधर्माणामपि प्राकृतत्वकालत्व-जडत्वादीनां भगवद्धर्मत्वात्तत्तद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेदस्या-भावाच्च न भेदः एवं प्राकृतपदार्थेन सहा पि न भेदः । काल-प्राकृतयोरपि प्राकृतत्वकालत्वाविरोधेनाप्राकृतत्वस्वरूपयोग्यत्वस्य निरुक्तसच्चिदानन्दघनत्वलक्षणस्य सत्वात् । सृष्टिकाले तादृश-'योग्यताया अनुभवाभावेऽपि पूर्णप्रलयबेलायां प्राकृतकालयोः ''सकार्य्यमूलप्रकृतिः सकालाक्षरधामनि प्रकाशेऽर्कस्यरात्रीव-तिरोभूतां तदाऽभवत्'' इत्यादिशास्त्रेण ''सदेवसौम्येदमग्र-मासीत्''। इत्यादिशास्त्रानुसारेण च अक्षरधामापरपर्य्याये सच्चिदानन्दघनेऽप्राकृतपदार्थे प्रवेशे वह्न्ययोगोलकन्यायेन कालत्वप्राकृतत्वजडत्वाद्यविरोधितयाऽप्राकृतत्वस्य सच्चिदा-नन्दघनत्वस्याप्याविर्भावात् । अतएव सर्गकालेऽपि मृण्मयादि-रचितेऽपि भगवन्मूर्त्यादौ प्राणप्रतिष्ठाद्यनन्तरं शालिग्रामादौ च सर्वदैवस्वरूपतः सच्चिदानन्दघनत्वं शास्त्रे उपदिश्यते निषिद्ध्यते च मृत्पाषाणत्वादिबुद्धिः, भावनापरिपाके साक्षादनुभवोऽपि तथैव इतिबोध्यम् । न चैवमपि प्राकृतत्वकालत्वाप्रकृतत्वादिधर्मकृतभेदः स्यात् । तत्रापि तत्तद्योग्यताया सत्वात् अननुभवस्तु तथा विधभग-वदिच्छाया अभावादित्युक्तमेव । एवमेव प्राकृतकालजीवपदार्थानां प्राकृतानां रजः सत्वादीनां स्वगतभेदश्च लोकसिद्धो निराकर्तव्यः योग्यतासांकर्य्यस्य सर्वत्र विद्यमानत्वात् ।

इसी प्रकार प्राकृत पदार्थ एवं काल पदार्थ का भी भगवान् के साथ एवं प्राकृत तथा काल पदार्थ के साथ भगवान् का भी मुख्य भेद नहीं है-यह भी कहा ही है चेतनत्व एवं जडत्वकृत अभाव में तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व का अभाव होने से भेदत्व नहीं हो सकता । काल एवं अप्राकृत के भी भगवदात्मक होने भगवत् शक्ति होने से भगवान् स्वरूप घटक होने के कारण तद्‌गत प्राकृतत्व कालत्व, जडत्व

आदि के भी भगवद् धर्म होने से तद् धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद का अभाव होने से भेद नहीं है । इसी प्रकार प्राकृत पदार्थ के साथ भी भेद नहीं है । काल प्राकृत में भी प्राकृतत्व एवं कालत्व के अविरोध से निरुक्त सच्चिदानन्दघनत्व स्वरूप प्राकृतत्व स्वरूप योग्यत्व विद्यमान है। सृष्टिकाल में तादृश योग्यता के अनुभव न होने पर भी पूर्ण प्रलय की वेला में प्राकृत एवं काल के ''सकार्यमूल प्रकृतिः सकालाक्षरधामनि प्रकाशेऽर्कस्यरात्रीव तिरोभूता तदाऽभवत्'' इत्यादि शास्त्रवचन तथा ''सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'' इत्यादि शास्त्र के अनुसार अक्षरधाम अपर पर्याय सच्चिदानन्दघन अप्राकृतपदार्थ में प्रवेश होने पर वह्नि अयोगोलक न्याय से कालत्व, प्राकृतत्व, जडत्व आदि के अविरोधितया सच्चिदानन्द-घनत्वस्वरूप अप्राकृतत्व का भी आविर्भाव होता है । इसीलिये सृष्टिकाल में मृण्मय आदि से रचित भगवान् की मूर्ति आदि में प्राण प्रतिष्ठा के अनन्तर तथा शालग्राम आदि में भी सदा ही स्वरूपतः सच्चिदानन्दघनत्व का शास्त्र में उपदेश है और इसमें मृत्-पाषाणत्व आदि बुद्धि का प्रतिषेध किया जाता है । भावना का परिपाक होने पर साक्षात् अनुभव भी वैसा ही होता है-ऐसा समझना चाहिये । वहाँ प्राकृतत्व कालत्व तथा अप्राकृतत्व आदि धर्मकृत भेद नहीं होगा-क्योंकि वहाँ भी तत् तत् योग्यता विद्यमान है, अनुभव न होना तो भगवान् के इच्छा के अभाव से है । यह भी पहले कहा ही है । इसी तरह प्राकृत काल एवं जीव पदार्थों तथा प्राकृत रजस् सत्त्व आदि में लोकप्रसिद्ध स्वगत भेद का भी निराकरण करना चाहिये, क्योंकि योग्यता का सांकर्य सर्वत्र विद्यमान है ॥१३॥

(१४)

ननुसर्वत्र-सर्वयोग्यताया सत्त्वे मानाभाव इतिचेन्न भगवतः कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं सर्वसमर्थत्वस्य सर्वशास्त्रसिद्धत्वात् सर्वत्र सर्वभवनयोग्यताया अस्वीकारे तादृशसर्वसमर्थत्वस्यासंभवापत्तेः। इदमेव भगवति भगवच्छक्तिषु च सर्वसमर्थत्वं यत् सर्वविधयोग्य-तावत्त्वम् । न चैवं सति कदाचित् जडं चेतनं, चेतनं च जडं, कूटस्थं

परिणामिनं, परिणामिनं च कूटस्थं, सम्पादयेत् भगवान्, कदाचित् नित्यं जीवं नाशयेदपि, तथात्वाभावेऽपि तदंशे सामर्थ्यहीनत्वापत्ते-रितिवाच्यम्। यथा-सर्वेषां जीवानामेककालावच्छेदेनैव मोक्षदानसमर्थत्वेऽपि सुखदुःखज्ञानादि वैषम्यनिराशसमर्थत्वेऽपि च स्वसत्यसंकल्पसिद्धानादिमर्य्यादयैव सर्वं करोति, स्वमर्यादो-च्छेदनसमर्थोपि न मर्य्यादामुच्छिनत्ति तथा तत्तद्गतवस्तुयोग्यताया व्यत्ययेनानुभावनसमर्थोऽपि स्वसिद्धमर्य्यादानुसारेणैव वस्तुस्व-रूपमनुभावयति तथापि सर्वत्र सर्वयोग्यतात्मकसामर्थ्यंतु अस्त्येव। जीवादिष्वपि एककालावच्छेदेन मुक्त्यादिलाभाभावेऽपि तादृशयोग्यता त्वस्त्येवेति न दोषः। या च जीवादिषु नित्यत्वविप-र्य्यासनाशादिशंका कृता सा तु सत्कार्य्यवादिनामस्माकं क्वचिदपि पदार्थेषु अनित्यत्वस्वरूपनाशादीनामस्वीकारेण सांकर्य्याभावादेव निराकृता वेदितव्या इतिदिक्।

यदि कहें सर्वत्र सर्वविध योग्यता के सद्भाव में प्रमाण का अभाव है तो ऐसा नहीं कह सकते ? भगवान् कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सर्वसमर्थ हैं, यह बात सर्वशास्त्र सम्मत है। यदि सर्वत्र सर्वभवन योग्यता स्वीकार न करें तो भगवान् में उक्त प्रकारक सर्वसमर्थत्व असंभव हो जायेगा। भगवान् में और भगवान् की शक्तियों में यही तो सर्वसमर्थत्व है जो उनमें सब प्रकार की योग्यता है। यदि कहें कि ऐसा स्वीकार करने पर तो भगवान् कभी जड़ को चेतन, चेतन को जड़, कूटस्थ को परिणामी परिणामी को कूटस्थ बना देंगे, उसी प्रकार कभी नित्य जीव का विनाश भी कर देंगे, ऐसा नहीं करने पर भी तो उस अंश में भगवान् में सामर्थ्यहीनत्व की आपत्ति होगी तो ऐसा नहीं कह सकते, इसका उत्तर यह है कि जैसे भगवान् में एककाल में ही समस्त जीवों को मोक्षदान सामर्थ्य होने पर भी सुख, दुःख, ज्ञान, अज्ञान आदि वैषम्य निराशयोग्यता होने पर भी भगवान् अपने सत्य संकल्प सिद्ध स्वनिर्मित अनादिमर्यादा के अनुसार ही सब विधान करते हैं, अपनी मर्यादा के उच्छेदन समर्थ होने पर भी मर्यादा का

उच्छेदन नहीं करते उसी प्रकार तत् तत् वस्तुगत योग्यता में व्यत्यय (परिवर्तन) करके तत् तत् वस्तु के अनुभावन में समर्थ होने पर भी भगवान् अपने द्वारा स्थापित मर्यादा के अनुसार ही वस्तु के स्वरूप का अनुभव कराते हैं । फिर भी सर्वत्र सर्वयोग्यतात्मक सामर्थ्य तो उनमें है ही । जीव आदि के भी एककालावच्छेदेन मुक्ति आदि के लाभ के अभाव होने पर भी उक्त प्रकारक योग्यता तो है ही । जीव आदि में नित्यत्व का विपर्यास एवं विनाश की जो शंका की गई है, वह तो सत्कार्यवादी हम लोगों के मत में किसी भी पदार्थ में अनित्यत्व तथा स्वरूप नाश आदि स्वीकार न करने से सांकर्य के अभाव के कारण ही खण्डित हो जाती है । ऐसा समझना चाहिये ॥१४॥

(१५)

एवं च --सर्वत्र तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नतत्तद्धर्माच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावलक्षणस्य ब्रह्मात्मकत्वपरिपन्थिनो लौकिक-भेदस्य, अभेदे च शास्त्रसिद्धवैलक्षण्यप्रमितिपरिपन्थित्वांशस्य च प्रतिषेधे सिद्धेः सर्वत्र ब्रह्मात्मकत्वानुभववेलायामपि शास्त्रसिद्धवैलक्षण्यप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या विलक्षणविलक्षण-कार्य्यकारित्वलक्षणशक्त्यापरपर्य्यायः ब्रह्मात्मकत्वाविरोधिभाव-रूपः तत्तद्वस्तुषु पर्य्याप्तः भगवति स्वरूपमाहात्म्यान्तर्भूतः विशेष-तारूपः धर्मविशेषःसिद्ध्यति स एव भेदाभेदवादे लौकिकभेदस्य किंचित्साधर्म्यात् भेदशब्देनापि व्यपदिश्यते तादृश विशेषधर्ममा-दायैव सविशेषवाद इत्यपि तस्य नामान्तरम् । अभेदांशेऽपि लोक-सिद्धवैलक्षण्यपरिपन्थित्वांशत्यागात्-प्रकृताभेदस्यापि लोक-विलक्षणत्वं बोध्यम् । अत एव ''तस्मान्न भिन्नं नाभिन्नम्'' इति कृष्णोपनिषदि लौकिकाभेदस्यापि लौकिकभेदवदेव निषेध इत्युपपादितं प्राक् ।

इस प्रकार सर्वत्र तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न तद् धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभावरूप ब्रह्मात्मकत्व विरोधी लौकिक भेद तथा अभेद

में भी शास्त्र सिद्ध वैलक्षण्य प्रतीति विरोधित्वांशको प्रतिषेध सिद्ध होने पर सर्वत्र ब्रह्मात्मकत्व के अनुभव काल में भी शास्त्र सिद्ध वैलक्षण्य प्रतीति की अन्यथा अनुपपत्ति के कारण विलक्षण, विलक्षण कार्यकारित्व स्वरूप शक्ति का अपर पर्याय, ब्रह्मात्मकत्व के अविरोधी भावरूप, तत् तत् वस्तु में पर्याप्त तथा भगवान् के स्वरूप माहत्म्य के अन्तर्गत विशेषता-रूप धर्म विशेष भेद सिद्ध होता है, तथा वही भेदाभेद प्रस्थान (निम्बार्क सम्मत) में लौकिक भेद के साथ किंचित् साधर्म्य होने के कारण भेद शब्द से ही व्यवहृत होता है और उक्त प्रकारक विशेष धर्म को लेकर ही सविशेषवाद भी उसका नामान्तर है । अभेद अंश में भी लोकसिद्ध वैलक्षण्य प्रतीति के विरोधित्व अंशका परित्याग होने से अभेद भी यहाँ लोक विलक्षण है--ऐसा समझना चाहिये । इसीलिये कृष्णोपनिषद् में "तस्मान्नभिन्नं नाभिन्नं" इस वचन द्वारा लौकिक अभेद का भी लौकिक भेद की तरह ही निषेध है ऐसा पहले उपपादन किया गया है ॥१५॥

(१६)

इदं पुनरिहानुसन्धेयम्--वैलक्षण्यानुबन्धित्वे सति प्रतियोग्यनुयोगितादात्म्यपरिपन्थित्वं लौकिकभेदस्य, तादृशतादात्म्यानुबन्धित्वे सति वैलक्षण्यपरिपन्थित्वं लौकिकाभेदस्य स्वभावः। तत्र भेदे तादात्म्यपरिपन्थित्वांशस्य, अभेदे वैलक्षण्यपरिपन्थित्वांशस्य प्रकृते त्यागः, इत्येव तस्मान्न, इत्यादिश्रुतेस्तात्पर्य्यम्। तेन न भेदाभेदश्रुतिव्याघातः, इति संक्षेपः।

यहाँ पुनः यह ज्ञातव्य है--वैलक्षण्य अनुबन्धी होकर प्रतियोगी अनुयोगी के तादात्म्य का विरोधित्व लौकिक भेद का एवं तादृश तादात्म्य अनुबन्धी होकर वैलक्षण्य विरोधित्व लौकिक अभेद का स्वभाव है । यहाँ (श्रौत सम्मत निम्बार्क भेदाभेद) भेद में तादात्म्य परिपन्थित्वांश तथा अभेद में वैलक्षण्य विरोधित्वांश का परित्याग है और यही "तस्मान्न भिन्नं ना भिन्नं" इत्यादि श्रुतियों का तात्पर्य है । इसीलिये भेदाभेद श्रुति का व्याघात नहीं है इति संक्षेपः ॥१६॥

(१७)

एताद्दशभेदाभेदावादायैव श्रुतिस्मृतिब्रह्मसूत्रादिषु क्वचिद्भेदेन क्वचिदभेदेन ब्रह्मतत्त्वस्य निरूपणम् । नानात्वैकत्वादिकमपि तादृशभेदाभेदयोरेव पर्य्यायान्तरम् । द्वैताद्वैतपदमपि व्याख्यातमेव। शास्त्रेषु यत् विशेषत एकत्वस्थापने प्रवृत्तिर्दृश्यते तत् एकत्वस्य लौकिकप्रमाणागम्यत्वेन दृढत्वाय, नतु तादृशद्वैतप्रतिषेधाय इति बोध्यम् ।

इसी भेदाभेद को लेकर श्रुति-स्मृति तथा ब्रह्मसूत्र आदि शास्त्रों में कहीं भेदरूप में कहीं अभेदरूप में ब्रह्मतत्व का निरूपण किया गया है। इसी तरह नानात्व, एकत्व आदि भी उक्त भेदाभेद का ही पर्य्याय है । द्वैताद्वैत पद की पूर्व में व्याख्या हो ही चुकी है । शास्त्रों में जो विशेष रूप से एकत्व या अभेद स्थापन में प्रवृत्ति दिखाई देती है वह एकत्व के लौकिक प्रमाणों से अगम्य होने के कारण उसकी दृढता के लिये न कि उक्त प्रकारक द्वैत या भेद के प्रतिषेध के लिये ऐसा समझना चाहिये ॥१७॥

(१८)

किंच्च मुमुक्षवस्तावद्द्विविधाः--एके निजस्वरूपलाभ-मात्रपराः, अपरे-श्रीपुरुषोत्तमरसास्वादरसिकाः, मुक्तनिजस्वरूप-लाभस्तु तेषामन्यथैव भगवत्कृपासिद्ध,-इति । तत्र द्वितीया नितरामल्पाः,-''मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्'' इति भागवतवाक्यात् भगवता तथात्वेनाल्पतराणामेवाङ्गीकृतत्वेन अन्येषां क्षराक्षरातीतश्रीपुरुषोत्तमप्रेमदास्येऽपि परिच्छिन्न-सुखपरिणामवैरस्यादिविभ्रमोदयात् । अतः निजस्वरूपलाभमात्रपराणां मुमुक्षूणां बाहुल्यात् सामान्यमोक्षशास्त्रेषु तेषामुपयोगितया विशेषतो निर्विशेषत्वेनैव ब्रह्म निरूप्यते, तेषां विशेषचिन्तने प्रयोजनाभावात् कैवल्यनिष्ठादृढीकरणस्यावश्यकत्वात् श्रीपुरुषोत्तमरसिकमुमु-क्षूणामपि निरुक्तवैलक्षण्यानुभवपरिपन्थित्वांशत्यागेन ब्रह्मात्मैक्य-विज्ञानस्य उपर्य्युक्तदिशोपयुक्तत्वाच्च । भक्तिपरमोक्षशास्त्रेषु

विशेषतः सविशेषतया । उपनिषद्गीतासूत्रादिषु मूलप्रमाणग्रन्थेषु उभयसामञ्जस्येन, तेषां मध्यस्थप्रमाणत्वात् इतिनेतरेतर-व्याघातशङ्कावसर इति बोध्यम्।

मुमुक्षु दो तरह के होते हैं--कुछ लोग अपने स्वरूप लाभ मात्र परायण होते हैं जो स्वस्वरूप साक्षात्कार को ही परम लाभ समझते हैं । अन्य लोग श्रीपुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) रसास्वाद के रसिक होते हैं-ऐसे लोगों को मुक्त निज स्वरूप लाभ तो अन्यथैव भगवत्कृपा से ही सिद्ध हो जाता है । इनमें पुरुषोत्तम रसास्वाद के रसिक मुमुक्षु बहुत कम होते हैं-''मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्' इस भागवत वाक्य के अनुसार भगवान् ने अपनी रसमाधुरी के रसिक रूप में थोड़े से लोगों को ही स्वीकार करने के कारण भक्तिहीन जनों को क्षराक्षर अतीत पुरुषोत्तम प्रभु के प्रेम एवं उपासना में परिच्छिन्न सुख तथा परिणाम वैरस्य आदि विभ्रम का ही उदय हो जाता है ।इसलिये निज स्वरूप लाभ मात्र परायण मुमुक्षुओं के बाहुल्य के कारण सामान्य मोक्ष शास्त्र में ऐसे लोगों के उपयोगी होने के कारण विशेष रूप से निर्विशेष रूप से ही ब्रह्म का निरूपण किया जाता है । उनको विशेष चिन्तन में प्रयोजन न होने से उनके लिए कैवल्य निष्ठा का दृढीकरण आवश्यक है । श्रीपुरुषोत्तम रस रसिक मुमुक्षुओं के लिए भी पूर्वोक्त प्रकारक वैलक्षण्यानुभव विरोधित्वांश के परित्याग पूर्वक ब्रह्मात्मैक विज्ञान उपर्युक्त रीति से उपयुक्त है । इनमें भी भक्तिपरक मोक्षशास्त्र में विशेषतया सविशेष ब्रह्म का चिन्तन निरूपण है । उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र आदि मूल प्रमाण ग्रन्थों में उभय सामञ्जस्येन व र्गन है। कारण ये तीनों प्रस्थानत्रयी मध्यस्थ प्रमाण है, इस प्रकार परस्पर कोई व्याघात शंका का अवसर नहीं है ॥१८॥

(१९)

अयमेव भेदाभेदसिद्धान्तः--लौकिकभेदाभेदनिरूपक-लक्षणप्रमाणादिभिः चिन्तयितुमशक्यत्वात्, ''अचिन्त्यभेदा-भेदशब्देनापि'' विपश्चिद्भिरुच्यते । तथा लौकिकभेदस्य ब्रह्मात्म-

कत्वपरिपन्थिनः सर्वथा प्रतिषेधात्, एवमपि वैलक्षण्यप्रत्ययनिर्वाहेन तदर्थम्, अविद्यायाअकल्पनात् सर्वस्मिन् ब्रह्मात्मकत्वस्य संरक्षितत्वाच्च शुद्धाद्वैतपदेनापि मनीषिभिर्निरूप्यते। चिंदचित्पदार्थयोर्वैशिष्ट्यस्य ईश्वरे संरक्षितत्वात् विशिष्टाद्वैतशब्देन, वैलक्षण्याख्यलीलाशक्तिमहिम्ना लौकिकभेदमन्तरैव सर्वसमुपपादनेन लीलाविशिष्टाद्वैत शक्तिविशिष्टाद्वैतशब्दाभ्यामपि च विद्वद्भिर्व्यवहर्तुं शक्यते एव।

इसी स्वा० भेदाभेद सिद्धान्त को लौकिक भेद या अभेद निरूपक लक्षण तथा प्रमाण आदि द्वारा सिद्ध न होने या उनका वर्णन अशक्य होने के कारण कतिपय आचार्य अचिन्त्यभेदाभेद कहते हैं। इसी तरह ब्रह्मात्मकत्व विरोधी लौकिक भेद का सर्वथा प्रतिषेध होने पर भी वैलक्षण्य प्रतीति का निर्वाह होता है तथा उसके लिये अविद्या की कल्पना भी नहीं होती एवं सब में ब्रह्मात्मकत्व होने के कारण उसे शुद्धाद्वैत भी कतिपय मनीषियों ने कहा है। तथा चित्, अचित् पदार्थ का वैशिष्ट्य ईश्वर में होने के कारण कुछ विशिष्टाद्वैत शब्द से एवं वैलक्षण्याख्यलीला शक्ति की महिमा से लौकिक भेद के बिना ही समस्त व्यवहार का उपपादन कर लीलाविशिष्टाद्वैत किंवा शक्तिविशिष्टाद्वैत शब्दों द्वारा भी विद्वानों द्वारा व्यवहार किया ही जा सकता है ॥१९॥

(२०)

भेदाभेदसिद्धान्तस्तु श्रीरामानुजाचार्य्याणां श्रीवल्लभाचार्य्याणामपि च सम्मतः, तदुक्तं श्रीभाष्ये पूर्ववद्वा ३।२।१८। सूत्र व्याख्यायाम्- 'विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वेनाभेदव्यवहारो मुख्यः।' 'विशेष्यविशेषणयोः, स्वरूपस्वभावेन भेदव्यवहारोऽपि मुख्यः। ब्रह्मणोनिर्द्दोषत्वं च रक्षितम् इति। श्रीवल्लभाचार्य्याणामपि- अणुभाष्यप्रकाशे- ''प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्वात् इत्यत्र'' आतपादेर्धर्म्मत्वेन धर्मित्वेन च प्रतीतेः, इति भाष्यप्रतीकमाश्रित्य व्याख्यानशेषे ''एवं च ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपेण सर्वेषां ब्रह्मा-

भेदः, ब्रह्मणस्तु कार्य्यलक्षणेन सर्वस्माद्भेदः, जगतः, कार्य्यत्वाच्चिदानन्दतिरोभावात् तयोः स्वल्पत्वाच्च भेदः, जीवे आनन्दांशतिरोभावादल्पत्वादंशत्वादिभ्यश्च भेदः, अक्षरे गणितानन्दत्वादिभ्योभेदः, एवम् अन्यत्रापि। एवं भाष्यान्तरेऽपि बोध्यम् इति दिक्।

इति श्रीमिथिलामहीमण्डलान्तर्गत-दङ्गा-हरिपुर-ग्रामवास्तव्य-झोपाख्य श्रीभगीरथशर्म-मैथिलविरचते-द्वैताद्वैतविवेके-तृतीयोंऽशः ।

भेदाभेद सिद्धान्त श्रीरामानुजाचार्य महाराज एवं श्रीवल्लभाचार्य महाराज का भी सिद्धान्त है । जैसा कि श्रीभाष्य में 'पूर्ववद्वा' (ब्र.सू. ३।२।२८) की व्याख्या में उन्होंने कहा है--विशिष्ट वस्तु के एकदेश होने के कारण अभेद व्यवहार मुख्य है तथा विशेष्य में स्वरूप एवं स्वभाव के कारण भेद व्यवहार भी मुख्य है और ब्रह्म का निर्दोषत्व भी सुरक्षित है । श्रीवल्लभाचार्य महाराज भी अणुभाष्य के प्रकाश में 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्' इस सूत्र की व्याख्या में 'आतपादेर्धर्मत्वेन धर्मित्वेन च प्रतीतेः' इस भाष्य के प्रतीक का आश्रय कर इसके व्याख्यान के शेष भाग में 'एवंच ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपेण सर्वेषां ब्रह्माभेदः' और कार्यलक्षण द्वारा सबसे भेद है । जगत् के कार्य होने से उसमें चिदानन्द का तिरोभाव होने से उनमें स्वल्प भेद भी है । जीव में आनन्दांश के तिरोभाव के कारण उसमें अल्पत्व तथा अंशत्व आदि के कारण भेद है। अक्षर में गणित आनन्दत्व आदि से अभेद । इसी प्रकार अन्य भाष्यों में भी भेदाभेद स्वीकार किया गया है । इतिदिक् ॥२०॥

इसके आगे मूलग्रन्थ में ११ श्लोक हैं जिनमें १ से ७ तक प्रिया-प्रीतम श्रीराधामाधव का ध्यान तथा उनसे जन्म जन्मान्तर उनकी भक्ति की याचना है । जो लेखक की निजी रचना है । आठवें श्लोक में लेखक ने अपनी जन्मभूमि मिथिला का स्वरूप बताया है । नौवें दशवें श्लोक में गुरु परम्परा का वर्णन एवं गुरु वन्दना है । ग्याहरवें में अपना परिचय एवं देश का वर्णन किया है ।

(२१)

"माधुर्य्याणां निधानं परमरसघनं सच्चिदानन्दरूपम्,
रम्यं रम्याम्बुदाभं विमलशशिमुखं पक्वबिम्बाधरोष्ठम् ।।
पाणौ वंशीं दधानं कनकरुचिपटप्राप्तिरम्यं किशोरम्,
ध्याये राधामुखेन्दौ सुविहितनयनं ब्रह्म वेदान्तमृग्यम्" ।।१।।
"वामे शारदचन्द्रकोटिमधुरां कैशोरकान्त्युज्ज्वलाम्,
कान्तां कामकलात्मिकां कमलिनीं कारुण्यपूर्णेक्षणाम्।।
सच्चित्प्रेमरसात्मिकां रसमयीमाजानुदीर्घालकाम्,
सेवेऽहं परमां श्रियं भगवतीं वृन्दावनाधीश्वरीम्" ।।२।।
" हे नाथौ युवयोः पदाम्बुजतलं प्राप्तं हि मां मालया,
द्वैताद्वैतविवेकनामयुतया त्वत्कीर्तिगन्धाढ्यया ।।
त्वत्सेवाप्रियमानसेन हि मया त्वत्प्रेरणालब्धया,
स्वीकृत्य स्वपदारविन्दरसने संस्थाप्यतां सर्व्वदा" ।।३।।
"वाणी गुणानुकथने युवयोः सदा स्यात्,
चक्षुः परेश्वर पदाम्बुजदर्शने स्यात् ।।
पाणी तवानुचरसेवनतत्परौ मे,
सर्वेन्द्रियाणि युवयोरनुसेवने स्युः" ।।४।।
"इममेव वरं वृणे व्रजेश, तव पादाम्बुजमञ्जलौ निधाय।
मम जन्मनि जन्मनि स्वकीये, चरणे भक्तिरचञ्चला विधेया" ।।५।।
"वदनं तव कामकामितं, नयनं कामशरासनं परम् ।
अधरं रससारसागरो, रसनीयं मम मानसे निधेहि" ।।६।।
"अपरं च वृणे व्रजेन्द्रसूनो, तव भक्तेर्म्मम लाञ्छने मतिर्मे।
कलिजस्य भवेत्तथा विधेया, भवता दम्भतमोदिवाकरेण' ।।७।।
"याऽस्ति श्रीनिमिवंशभूपतिमहाकीर्तिप्रतापान्विता,
कर्मज्ञानविवेकभूतलतया ख्याता श्रुतीनां गणे ।।
यस्यां श्रीश्चकमे स्वजन्म ललितं विद्या परा शाश्वती,
सा जीयान्मम जन्मभूमिमिथिला' योगीन्द्रवृन्दाश्रया" ।।८।।

''नमो गुरुभ्यः पूर्वेभ्यो हंसादिभ्य समादरात् ।
सत्कृपालेशमात्रेण द्वैताद्वैतं परिष्कृतम्' ॥९॥
''गुरून्नमामि विधिवद्भक्तजीवातुपादुकान् ।
दक्षिणामूर्तिरूपान् हि ''वैष्णवाख्यान्विदांवरान्'' ॥१०॥
''मैथिलान्वयजातेन मिथिलाभूमिवासिना ।
भगीरथाख्यविप्रेण द्वैताद्वैतं परिष्कृतम्'' ॥११॥

इस प्रकार मिथिलामही मण्डलान्तर्गत ढक्रा हरिपुर ग्राम वास्तव्य झोपाख्य पं० श्रीभगीरथ शर्मा द्वारा विरचित द्वैताद्वैत विवेक के तृतीय *अंश का उनके कृपापात्र शिष्य पं० श्रीवैद्यनाथ झा पूर्व प्राचार्य श्रीनिम्बार्क* संस्कृत महाविद्यालय-वृन्दावन द्वारा हिन्दी अनुवाद पूरा हुआ ।

समाप्तोऽयं निबन्धः ।

ॐ तत्सत् श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

श्रीराधाष्टमी, संवत् २००२ वै०

-- परिशिष्टांशः --

(परीक्षोपयोगीनि प्रश्नोत्तराणि)

संकलनकर्ता : पं० वासुदेवशरण उपाध्याय

प्र० १. आद्यनिम्बार्काचार्यस्य जीवनवृत्तं रचना परिचयं च लिखत।

उ० - श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यः सर्वेश्वरस्य भगवतः श्रीकृष्णस्यायुधवर-सुदर्शनचक्रावतार आसीत् । पुराभारतवर्षस्य दक्षिणदिग्भागे महाराष्ट्रप्रदेशा-न्तर्गते गोदावरीतटवर्तिनि वैदूर्यपत्तनाख्ये (मूगी-पैठन) नगरे महर्षिररुणः स्व-भार्यया जयन्त्या सह पुत्रसन्तति लाभाय तपोऽतप्यत। श्रीकृष्णस्य लीलासम्व-रणानन्तरं भूतले पुनरासुरीशक्तीनां प्राबल्यमजायत । तदा देवमुनिवृन्दानां प्रार्थ-नया प्रसन्नः श्रीहरिस्तानाश्वासयन् स्वकीयं प्रियायुधं सुदर्शनचक्रमादिदेश ''सुदर्शन महाबाहो ! सूर्यकोटिसमप्रभ । अज्ञानतिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रद-र्शय॥'' इति, तदनन्तरं भगदाज्ञां शिरोधार्य चक्रराजः श्रीसुदर्शनः श्रीअरुणमुनेः पुत्ररूपेण जयन्तीगर्भात् कार्तिक शुक्ल पूर्णिमायां निशामुखे प्रादुर्बभूव । वाल्यावस्थायां तस्य नाम नियमानन्द आसीत् । आविर्भाव कालश्च भविष्य पुराणानुसारं कलियुगारम्भे युधिष्ठिर संवत् ६ इति मन्यते तन्मतानुवर्तिभिः। तस्मिन् समये महाराजः परीक्षिद् भारते राज्यं शशास ।

स्वल्पे वयसि संस्कारसम्पन्नः श्रीनियमानन्दः पितुरेव वेदादिशास्त्राणि समधीतवान् । तत्पश्चात् व्रजवासिनां संगत्या मातापितृभ्यां सह कतिपयै-रहोभिर्व्रजभूमिं प्राप्नोत् । तत्र यमुनापुलिनं, मधुपुरीं, वृन्दावनं तथा समग्र व्रजक्षेत्रस्य रमणीयतां विलोक्य भक्तिपूर्णेन मनसा नितरां प्रसन्नो बभूव । गिरिराजगोवर्धनस्य समीपे (निम्बग्रामे) आश्रमं निर्माय तपश्चकार । तत्रैकदा लोकपितामहो ब्रह्मा दिवाभोजिनं यतिरूपं धृत्वा तदाश्रमं प्राप कश्चित् कालं शास्त्रचर्चायां निनाय, सूर्यश्चास्तंजगाम, । श्रीनियमानन्देन स यतिर्भोजनाय प्रार्थितः। तेनोक्तं सूर्यास्ते जाते न वयं भुञ्ज्महे । अतिथि-सत्कारस्य महत्वं दर्शयन् नियमानन्दः चक्ररूपं स्वकीयं तेजोऽर्कबिम्बरूपेण निम्बवृक्षे प्रादर्शयत। एतदवलोक्य यतिना भोजनं कृतम्, रात्रिश्च समदृश्यत। असौ चक्रराजस्यावतार इति निश्चित्योवाचमहात्मन् भवता सूर्यास्तेऽपि निम्बतरौ, ''अर्कबिम्बं

स्थापयित्वा रात्रावपि सूर्यप्रकाशो दर्शितः। अतः अद्यप्रभृति भवन्नाम ''निम्बार्कः'' इति लोके प्रसिद्धिमेष्यति। भवत्प्रवर्तितः सम्प्रदायः सिद्धान्तश्च निम्बार्क-सम्प्रदायः, स्वाभाविक द्वैताद्वैतदर्शनमिति लोके प्रसरिष्यति। *एवमुक्त्वा यतिरन्तर्हितवान्। देवर्षेः श्रीनारदाल्लब्धदीक्षः श्रीनिम्बार्कः श्रीसर्वेश्वरं* समाराधयन् शास्त्राणि रचयामास। भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यः स्वशिष्यैः सह भारतं परिक्रम्य सर्वत्र वैष्णवधर्मस्य प्रसारं कृतवान् । तदीयाः प्रसिद्धा रचनाः सन्ति यत्--१. वेदान्तपारिजातसौरभम् (ब्रह्मसूत्रभाष्यम्) २. वेदान्तदश-श्लोकी ३. प्रातः स्तवराजः ४.राधाष्टकम् ५. मन्त्ररहस्यषोडशी (गोपालमन्त्र-व्याख्या) ६. प्रपन्नकल्पवल्ली (मुकुन्दमन्त्र-व्याख्या) ।एते ग्रन्थाः प्रकाशिता उपलब्धाश्च सन्ति ।अन्ये गीतावाक्यार्थः, सदाचार प्रकाशः, प्रपत्तिचिन्तामणिः (एते अनु-पलब्धाः) इति ।

२. द्वैताद्वैतपदे सामानाधिकरण्यविरोधं प्रदश्र्य तत्परिहारं कुरुत ।

सुदर्शनचक्रावतारैराद्यनिम्बार्काचार्यैः शास्त्रेषु स्वतः स्फूर्तः स्वा-भाविकद्वैताद्वैतसिद्धान्तो लोके प्रवर्तितः ।तत्र द्वैताद्वैतपदार्थविषये पण्डितप्रवरः श्रीभगीरथझामहोदयः स्वरचिते ''द्वैताद्वैतविवेक'' नामके प्रबन्ध ग्रन्थे पर्याप्तं विचारं प्रकटितवान् । ग्रन्थारम्भे जिज्ञासितं यत्-द्वैताद्वैतसिद्धान्ते किं नाम द्वैताद्वैतत्वमिति ।तत्रैवं विचार्यते--

''द्वाभ्यां चैव प्रकाराभ्यामितं तद् द्वीतमुच्यते ।
द्वीतं तदेव द्वैतं स्यादद्वैतं तु ततोऽन्यथा ॥''

इति विवरणकारानुसारं यद् वस्तु द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां ज्ञातं स्यात् तदेव पुनस्तत्प्रकाराभ्यामज्ञातमपि भवेत् तदेतत्कथं संगच्छते ? अत्र हि द्विपूर्वकाद् गत्यर्थकाद् इण् धातोः ज्ञानार्थे क्त प्रत्येय कित्वाद् गुणाभावे सवर्णदीर्घे द्वीत इतिजाते तस्मात् तद्धिते स्वार्थे ऽण् प्रत्येय आदिवृद्धौ स्वादिकार्ये द्वैतमिति शब्दो निष्पद्यते। तस्य नञ् शब्देन समासे कृते अद्वैतमिति जायते। द्वैतं च तदद्वैतमिति कर्मधारयसमासे कृते द्वैताद्वैतमिति पदं सम्पद्यते ।एवं च एकस्मिन् ब्रह्मणि स्वाभाविकरूपेण द्वैतत्वम्, अद्वैतत्वञ्च निम्बार्काचार्यपादैः समन्वित-मिति ग्रन्थकाराशयः ।

यद्यप्यत्र भेदबोधकेन नञा समासे कृते यथा सुन्दरासुन्दरो घट इति ।

प्रयोगो लोकविरुद्धः सामानाधिकरण्याभावात् शास्त्रविरुद्धश्च तथैव द्वैताद्वैत-पदयोरपि सामानाधिकरण्याभावात् कर्मधारय समास एव न सम्भवेदिति तथापि द्वाभ्यां परस्परविलक्षणाभ्यां स्वतन्त्र सत्व परतन्त्रसत्वाभ्यां चेतनाचेतनत्वाभ्यां चेतं ज्ञातं वस्तु द्वीतं तदेव द्वैतमिति । अद्वैतं तु तद् विलक्षणमिति। वस्तुतो द्वि शब्दोऽत्र न द्वित्व विशिष्टस्य वाचकः किन्तु अनेकार्थस्यवाचको विवक्षितः। तेन द्वाभ्यामिति-अनेकैश्चिदचिदीश्वरप्रकारैः बद्धमुक्तादितदवान्तरभेदैः प्राकृता-प्राकृतकालरूपैरचेतनस्वरूपैर्ज्ञातं, तदात्मकेन एकेनैव ब्रह्मात्मकत्वलक्षणेन ज्ञातं वस्तु, चिदचितोश्च ब्रह्मात्मकत्वात् तदधीनस्थितिप्रवृत्तिकत्वाच्च द्वैता-द्वैतपदयोः परस्परं सामानाधिकरण्यविरोधाभावात् तयोः कर्मधारय समासे न कापि क्षतिः । अतएव ''द्वैताद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः'' इति पूर्वा-चार्योक्तिः संगच्छते। एवं च द्वैताद्वैत शब्दो लोकसिद्धः शास्त्रसिद्धश्चेति दिक्।

३. भेदाभेदपदार्थे भेद पदस्य व्यवहार्यता कथमिति सिद्धान्तपक्षं समाश्रित्य समाधीयताम् ।

सुदर्शनचक्रावतारो भगवन्निम्बार्काचार्यः श्रुति-सूत्र-स्मृतिषु स्वतः सिद्धं स्वाभाविकभेदाभेद सिद्धान्तं लोके प्रवर्तयामास । तत्र भेदाभेदपदार्थे द्वैताद्वैतविवेककारः स्वविचारं परिष्काररूपेण प्रस्तौति यत्-भेदाभेदपदार्थे अभेदो यदि भेदसामान्याभावः स्वीक्रियते, भेदश्च घटः पटो न, पटश्च घटो नेतिवत् लोकप्रसिद्धस्तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावलक्षणः स्यात् तर्हि घटपटयोरिव भेदाभेदयोरपि सामानाधिकरण्यव्याघातः स्यात्, न च भेद सहिष्णुरभेदो ग्रहीष्यत इतिवाच्यम्, अभेदपदेनैव भेदाभेदलाभे भेद पदस्य व्यर्थत्वादिति शंकायामाह-

भेदाभेदपदार्थे भेदो न लोकप्रसिद्धः घटपटयोरिव विवक्ष्यते, सकल-वस्तूनां ब्रह्मात्मकत्वेन सिद्धान्तिभिस्तादात्म्यस्य सर्वत्र स्वीकारात् तादात्म्य-घटिताभावस्य तस्यासम्भवः। अभेद पदार्थश्च विलक्षणता प्रतीति विरोधित्वांश त्यागेन तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताभावलक्षणस्य भेदस्य अत्यन्ता-भाव एव। ब्रह्मात्मकत्वमात्रं वाऽभेदः। तस्य च न वैलक्षण्यविरोधित्वम्।कटक कुण्डलादीनां तद्वैलक्षण्येऽपि सर्वत्र सुवर्णात्मकत्वस्य विद्यमानत्वात्। एवं च लौकिकतार्किकवत् भेदाभेदपदयोः सामानाधिकरण्य विरोधो व्याघातो वा नास्ति। अतो भेदाभेदपदार्थे भेदस्यापि व्यवहार्यता प्रमाणसिद्धा-इतिदिक्।

४. ''उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्'' इति शारीरकमीमासासूत्रं ग्रन्थोक्तदिशा व्याख्यायताम् ।

''भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म ह्येतत्'' इत्यादि श्रुति निर्दिष्टस्य चिदचिदीश्वररूपपदार्थत्रयस्य स्वरूपगुणलक्षण-सम्बन्धादीनां सुखबोधाय भगवता व्यासेन शारीरकमीमांसाख्यानि ब्रह्मसूत्राणि रचितानि। येषु प्रारम्भिकं ''अथातोब्रह्मजिज्ञासा'' ''जन्माद्यस्य यतः'' ''शास्त्रयोनित्वात्'' ''तत्तु समन्वयात्'' इति सूत्रचतुष्टयं सर्ववेदान्तसारभूतं वर्तते। एतस्यैव विस्तारः समन्वय-अविरोध-साधन-फलाध्यायरूपः सूत्र-समूहः। तदिदं साधनाध्याये समुपदिष्टं ''उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्'' इति सूत्रं स्वाभाविकद्वैताद्वैतसिद्धान्तं (भेदाभेदंवा) सम्यक्तया निर्दिशति। अस्यायं भावः--

मूर्तामूर्तादि सर्वकार्यजातस्य-अचिद्वर्गस्य स्वरूपतो ब्रह्मभिन्नत्वेऽपि तदभिन्नत्वम्, कुतः ? उभयव्यपदेशात्, भेदाभेदव्यपदेशात्। अर्थात् उभयोर्भेद-बोधकाभेदबोधकयोः श्रुतिवाक्ययोः परस्परं बाध्यबाधकाभावात् व्यपदेशः मुख्यव्यवहारस्तस्मात्-इत्यर्थकरणाद् भिन्नत्वमपि वस्तु स्वभावतोऽभिन्नत्वेन व्यपदिश्यते। लोके यथा देवदत्तस्येकः पुत्रः अन्याभावे स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठ इत्यादि व्यवहारः प्रसिद्ध स्तथैव एकस्मिन् परब्रह्मणि विरुद्धनानाधर्मस्य स्वीकारात् भेदाभेदत्व व्यवहारः सुतरां सिद्ध इति। श्रुतिप्रमाणं दर्शयति-''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'' ''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'' इत्यादि भेदबोधिकाः ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' ''नेहना-नास्तिकिञ्चन'' ''तत्त्वमसि'' ''अयमात्मा ब्रह्म'' ''अहं ब्रह्मास्मि'' इत्याद्य-भेदबोधिकाश्च श्रुतयः समुपलभ्यन्ते। समबलत्वात् तासां बाध्यबाधकभावो न घटते। अतोऽचिद्वर्गस्य समन्वयरूपेण ब्रह्मणासह स्वाभाविकभेदाभेदसम्बन्धः स्वीकृतः। तत्र दृष्टान्तमाह-अहिकुण्डलवत्-इति। सर्वत्र विवक्षितांशमात्रेण दृष्टान्ता उपादीयन्ते। कुण्डलोपादानभूतोरज्वाकारः सर्पः (अहिः) कारणम्, तत्स्थानीयं सर्वशक्त्युपेतं जगदभिन्न निमित्तोपादानकारणं ब्रह्म, वलयाकारं कार्यभूतं कुण्डलम्। यथा सर्पः कुण्डलीभूतः कार्यत्वेन कारणत्वेन च व्यपदिश्यते तथैव ब्रह्मणो जगद्रूपं कार्यं प्रति निमित्तोपादानकारणत्वेन भिन्नाभिन्नत्वं स्वभावसिद्धम्। सिद्धान्ते शक्तिविक्षेप परिणामः स्वीक्रियते न तु विवर्तः, न

वाऽन्य इति दिक् ।

५. ''प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्'' इति सूत्रं स्वाभाविक (द्वैताद्वैत) भेदाभेदमतानुसारं व्याख्यायताम् ।

''अहि कुण्डलवत्'' ''सुवर्णालङ्कारवत्'' इत्यादि निदर्शनेन अचेतनवर्गस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मणा सह भेदाभेदसम्बन्धो भवतु नाम, किन्तु चेतनवर्गस्य जीवसंघस्य परमात्मना सह भेदाभेदसम्बन्धो न संगच्छते। ''अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गमित्यत्र जीवोऽनन्तेन साम्यं प्राप्नोतीति तयोः अत्यन्ताभेदप्रतीतेरित्याशङ्कायामुच्यते ''प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्'' इति। अस्यायं भावः-पूर्वसूत्रात् ''उभयव्यपदेशात्'' इति पदमात्रानुवर्तते। वा शब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः। नास्ति तयोर्जीवब्रह्मणोरत्यन्ताभेदः। ''यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्'' ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' ''परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्'' इत्यादौ स्वाभाविकभेदव्यपदेशात्। ''तत्त्वमसि'' ''अहं ब्रह्मास्मि'' ''अयमात्माब्रह्म'' इत्यादौ स्वाभाविकाभेदव्यपदेशाच्च जीवस्य ब्रह्मणा सह भेदाभेदसम्बन्धः सिद्ध्यति ।

तत्रदृष्टान्तं दर्शयति--''प्रकाशाश्रयवत्'' इति। प्रकाशः सूर्याग्निप्रभा-रूपः, आश्रयश्च सूर्यादिः। तत्र हि प्रकाशस्याश्रयेण सह स्वाभाविकौ भेदाऽभेदौ भवतः। प्रकाशस्याश्रयात् पृथगवस्थानस्यासम्भवात्। न चात्यन्तभिन्नयोस्तयोर-भेदे कोऽयमाग्रह इतिवाच्यम् ''तेजस्त्वात्'' इति हेत्वन्तरदर्शनात्। प्रकाशा-श्रययोस्तेजस्त्वाद् यथाऽभेदः तथैवांशभूतस्यजीवस्यांशिना परब्रह्मणा सहाभेदः। एवं सूर्यप्रभावत् जीवब्रह्मणोः स्वाभाविकौ भेदाऽभेदौ सिद्ध्यतः। ''अंशोनाना व्यपदेशात्'' इत्यादौ-उभयविधश्रुतिविरोधपरिहाराय जीवेशयोस्तथा विधः सम्बन्धः उक्तः। अत्र तु तार्किकादिपक्षवदत्यन्त भेद परिहाराय पुनरुक्त इति विशेषः।

एवं च निर्दिष्टश्रुतिसूत्र प्रमाणात् स्वाभाविक भेदाभेदसम्बन्ध एव जीव ब्रह्मणोर्गरीयान् न तु अत्यन्त भेदः, न वाऽत्यन्ताभेद इति संक्षेपः।

६. ''पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा'' ''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'' इत्यादि भेदवाक्यैः पदार्थस्वरूपं विधीयते तादात्म्यं वा प्रतिषिध्यत इति यथाशास्त्रं निर्णीयताम्।

श्रीनिम्बार्काचार्याभिमते स्वाभाविक भेदाभेदसिद्धान्ते भेदपदार्थो नैयायिकादिप्रसिद्ध तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावरूपाद् विलक्षणः स्वीकृतः। अहिकुण्डलादौ, कनक कटकादौ च स्वरूपवैलक्षण्यप्रत्यये सत्यपि तदात्मकस्याभावोनास्ति। अत एव स्वसिद्धान्ते जीवात्मपरमात्मनोः परस्परं स्वरूपवैलक्षण्येऽपि ब्रह्मात्मकत्वरूपेण तादात्म्यं स्वतः सिद्धम्। अत्रेदं विचार्यते यद्--भेदाभेदघटके भेदपदार्थः सिद्धान्ते भावरूपोऽभावरूपो वा सम्मत इति। न च भेदस्याऽभावतयैव प्रसिद्धत्वात् तथैव मन्तव्यमिति वाच्यम्, यादृश भेदस्याभावरूपेण प्रसिद्धिस्तादृश भेदस्य प्रकृते निराकृतत्वात्। अतः स भेदपदार्थः भेदाभेदवादिनां मते भावरूप एव स्वीकृतः।

''पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति'' ''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते'' इत्यादि श्रुतिषु जीवात्मपरमात्मनोः स्वभावतः परस्परं स्वरूपवैलक्षण्यं प्रतिपादितम्। अत एव ''भेदवाक्यानां पदार्थस्वरूपविधानपरत्वेन नैराकाङ्क्षम्'' इति वदता परपक्षगिरिवज्रकृता तथा विधाऽभिप्रायस्यैव निर्दिष्टत्वात्। तथाहि-भेदवाक्यैः पदार्थस्वरूपं विधीयते न तु तादात्म्यं प्रतिषिद्ध्यते इति तदर्थः। स च पदार्थो भावरूप एव नाभावरूपः। एवं सति यदि भेद वाक्याद् भावरूपं पदार्थमात्रं विधीयते तर्हि भेदाप्रतिपादकत्वात्कथं तस्य भेदवाक्यत्वमित्याकांक्षायां तादृशपदार्थस्वरूपस्यैव भेदत्वमपि वक्तव्यम्। अतोऽनिच्छयापि भेदस्य भावरूपत्वं स्वीकर्तव्यम्। सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गममतीति नियमाद् भेदवादिन्यः श्रुतयः पदार्थस्वरूपं प्रतिपाद्य विश्राम्यन्ति, तादात्म्यप्रतिषेधे सामर्थ्याभावात् तासां निराकांक्षता जायत इति भावः ।

७. द्वैताद्वैतविवेकमनुसृत्य ब्रह्मणः सविशेषत्वं निर्विशेषत्वं च साधयत।

स्वाभाविक भेदाऽभेदसिद्धान्ते भेदपदार्थो भावरूप एव नाभावरूप इति समर्थितः। एवं तर्हि भावरूपेणसमर्थितोऽपि स भेदः कीदृश इति जिज्ञासाजायते, तत्समाधानाय ग्रन्थकारः कथयति-इदमेतादृशं, इदं नैतादृशम्, इदमेतत्कार्यं करोति, इदं नैतत्कार्यं करोतीत्यादि स्वरूपतः कार्यतश्च तद् वस्तु स्वरूपविलक्षणानुभूति निर्वाहकः स्वतन्त्रो धर्मविशेष एव भावरूपो भेदः, इति। एतादृशधर्मविशेषाश्रयेणैव गुणशक्त्यादयः सर्वे ब्रह्मधर्मविशेषा उच्यन्ते। तेषां नित्याश्रयत्वाद् ब्रह्म सविशेषमुच्यते। अत एव सुदर्शनचक्रावतारैराद्य-

निम्बार्काचार्यैः स्वरचितवेदान्तदशश्लोक्यां ब्रह्मस्वरूपं निरूपितं यद्-- ''स्वभावतोऽपास्त समस्त दोष मशेषकल्याण गुणैकराशिम् । व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्। अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूप सौभगाम् । सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥'' इति ।

यथा सूर्ये वह्नौ वा शीतान्धकारादयो दोषाः स्वभावतो दूरीभूतास्तथैव परब्रह्मणि श्रीकृष्णेऽपि जन्मादयो विकाराः, अविद्यादयः क्लेशाः सत्वादयो मायागतगुणविशेषाः स्वभावेनैव निरस्ता अपास्ता भवन्ति। सार्वज्ञ्यादयो निखिलकल्याणगुणा यत्र दुग्धादौ शुक्लत्वमधुरत्वादय इवाविनाभावेन विराजन्ते। अतो व्यूहाङ्गित्वेन पुरुषोत्तमो भगवान् श्रीकृष्णः सगुणं साकारं सविशेषं च परं ब्रह्मेत्युच्यते।

निर्गुणत्वनिराकारत्वनिर्विशेषत्वप्रतिपादकानां श्रुतिवचनानामभिप्राय-स्तु प्रकृतिजन्यहेयगुणनिरासार्थः। अत एव श्रीकृष्णस्तवराजे स्तुतिव्याजेन सकलवेदान्तसारभूतं तत्त्वं प्रकटयन्तः पूर्वाचार्या आहुः--

निर्गुणं तदिति वैदिकं वचोऽविद्यया त्वयिविशेषणा सहे ।
वस्तुतोऽखिलविशेषसागरे नो विरुद्धमितितावदस्तु मे ॥
किञ्च किञ्चिदिहविद्यते न हि त्वां विनाऽण्वपितथाऽखिलेश्वर।
नेतिनेति च निषेधिताश्रयस्त द्विशेषविषयोऽपि सम्मतः ॥
जन्म कर्म गुण रूप यौवनं दिव्यमेव कवयो वदन्ति हि ।
श्रौतवाद उपलभ्यते तथा निर्विशेषचिति मङ्गलालये ।

इत्यादि-इतिदिक् ।

८. तत्त्वत्रयस्य पारमार्थिकत्वे ब्रह्ममात्रस्य सत्यत्व प्रतिपादकानां श्रुतिवचनानां कथं समन्वयः ? इति ग्रन्थोक्तदिशा निरूप्यताम् ।

स्वाभाविक द्वैताद्वैतसिद्धान्ते चिदचिदीश्वररूप पदार्थत्रयस्य यथार्थता स्वीकृता। अत एव श्रीमन्निम्बार्काचार्यचरणैः स्वरचित वेदान्तदशश्लोक्या-मुक्तम्--

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं त्रिरूपताऽपि श्रुतिसूत्र साधिता॥ इति।

यद्यपि तत्त्वत्रयस्य पारमार्थिकत्वे स्वीकृते ब्रह्ममात्रस्य सत्यत्वप्रति-

पादिकाः ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' ''मृत्तिका इत्येव सत्यम्'' इत्याद्याः श्रुतयो वाधिताः स्युस्तथापि ''यदिदं किञ्चतत्सत्यमित्याचक्षते'' इति स्व शब्देन सर्वस्य जगतः सत्यत्व कथनात्। ''पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभाव्यम्'' ''सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'' ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'' इत्यादौ पूर्वोक्त ब्रह्मात्मकत्वस्य प्रतीतेः, ''कथमसतः सज्जायेत'' ''सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'' इत्यत्र साग्रहं जगतः सत्यत्वकथनात्। कारणस्य ब्रह्मणोऽसत्यत्वनिषेधेन कार्यस्य जगतः सत्यत्व साधनाय ब्रह्मणो हेतुत्व प्रतिपादनं शास्त्रसिद्धम्। अत एव गीतायां भगवता पुरुषोत्तमेन ''असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्'' इति संसारस्य मिथ्यात्व कथनस्य आसुरत्वं स्पष्टमुक्तम्। ''आत्मकृतेः परिणामात्'' इति सूत्रेणापि ब्रह्मपरिणामं जगदिति सिद्धम्। परिणामश्चात्र शक्तिविक्षेपरूप एव गृह्यते। अत उभयविधश्रुतीनां समन्वय एवाचार्याणां तात्पर्यमितिदिक् ।

६. श्रीराधाकष्णयोः स्वाभाविक भेदाभेदत्वं प्रतिपादयत।

भगवता श्रीनिम्बार्काचार्येण स्वकीये दार्शनिक सिद्धान्ते चिदचितोर्जीवजगतोर्ब्रह्मणा सह यथा स्वाभाविको भेदाभेदसम्बन्धः स्वीकृतस्तथैव युगलस्वरूपब्रह्मणः श्रीराधाकृष्णस्य लीलाविलासादौ आकृतिभेदेन स्वाभाविक भेदाभेदत्वं प्रतिपादितम् । किन्तु जीवब्रह्मवद् परतन्त्रसत्ताश्रय-स्वतन्त्र सत्ताश्रयरूपत्वं नास्ति, उभयोः स्वतन्त्रसत्ताश्रयत्वमिति। तथाचोक्तं सम्मोहन तन्त्रे ''एकं ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधवरूपकम्'' ''गौरतेजोविनायस्तुश्यामतेजः समर्चयेत्। जपेद्वा ध्यायतेवाऽपि स भवेत् पातकी शिवे'' इत्यादि। अन्यच्च ''योऽहं स राधा किल राधिका तथा या साहमेवाद्यतमः सनातनः। श्रीराधिका-कृष्णयुगं सनातनं नित्यैकरूपं विगमादिवर्जितम्'' इत्यादि स्वयं श्रीकृष्णेनैवोक्तत्वाद्राधाकृष्णयोरभेदत्वम्। तस्मात् स्वल्पमपि न तयोः स्वरूपे स्वरूपधर्मे वा भेदत्वम् ।

स्वरूपधर्मे स्त्रीत्व-पुंस्त्ववदनुभवो हि धर्मकृत एव भेदः । श्रियः स्वरूपांशे परतन्त्रसत्ताश्रयत्वं कथमपि न सम्भाव्यते, सर्वथा भगवता सह तस्याः सदैकात्म्यात्। अन्यथा जीव भावापत्तौ ब्रह्मत्वहानिः स्यात्। एतत्सर्वं मनसि निधाय मंगलाचरणरूपेण राधाकृष्णं स्तौति ग्रन्थकारः--

''जयति जयति राधाकृष्णयुगमं वरिष्ठं व्रतसुकृतनिदानं यत्सदैतिह्यमूलम्।
विरलसुजनगम्यं सच्चिदानन्दरूपं व्रजवलयविहारं नित्यवृन्दावनस्थम् ॥''

अस्यायं भावः--यत् निखिलदानोपवासादि सुकृतस्य कारणम्, श्रुति स्मृति सूत्रतन्त्र धर्मशास्त्र पुराणेतिहासादीनां मूलतत्त्वम्, यतो हि शास्त्रं प्रभवति। यच्च कतिपयैरेवभाग्यशालिभिः सज्जनैर्मुमुक्षुभिः प्राप्यं न तु सर्वैः । तथा नित्यधामनि वृन्दावने विराजमानम्, व्रजवसुन्धरायां विहरणशीलम्, सच्चिदानन्दरूपम्, ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिभिर्देवैराराध्यमानम्, गोपीजनमानसहंसम्, नित्य सहचरीवल्लभम्, श्रीराधिका कृष्णरूपं गौरश्यामतेजोयुगलं सर्वोत्कृष्टं ब्रह्मतत्त्वं सर्वदा परमोत्कर्षेण राजते-इति। राधिकोपनिषदि श्रुतयः कथयन्ति ''येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकं क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत्'' एतावता सिद्धमस्ति यत् श्रीराधाकृष्णयोः स्वाभाविको भेदाभेद इति दिक्।

१०. द्वैताद्वैतदर्शने विवेकानुसारं जीवेश्वरयोः (जीवस्य-ईश्वरस्य) स्वरूपं लक्षणं च प्रतिपादयत।

वेदान्तदर्शने चिदचिदीश्वरभेदेन पदार्थस्त्रिविधो वर्णितः। ''भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म ह्येतत्'' इति श्रुतिवचानानुसारं तेषां स्वरूपतो भेदेऽपि ब्रह्मात्मकत्वेन (तादात्म्येन) अभेदो निर्दिश्यते। इदमेव शास्त्रेषु स्वतः स्फूर्तं स्वाभाविकद्वैताद्वैतत्वं कथ्यते ।

श्रुतौ भोक्ता शब्देन निर्दिष्टं तत्वं चेतनरूपो जीवः ! तथा प्रेरिता शब्देन निर्दिष्टं तत्त्वं ब्रह्म (ईश्वरः) इति। तत्र स्वरूपतः सच्चिदानन्दरूपा अणुपरिमाणाः परतन्त्र सत्ताश्रयाः धर्मतो विभुज्ञानमया भगवदात्मका भगवच्छक्तिविशेषा अनन्ता जीवा एव चित्पदार्थः। जीवस्य स्वरूपं तद्भेदांश्च निरूपयन्नाद्याचार्यः कथयति--

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम् ।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः।
अनादिमायापरियुक्त रूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत् प्रसादात्।
मुक्तं च बद्धं किल बद्धमुक्तं प्रभेदबाहुल्यमथापिबोध्यम्।

एवं श्रीभूलीलाद्यनन्तशक्तीनामात्मा स्वतन्त्रसत्ताश्रयः स्वरूपतो धर्मतो विग्रहादितश्च सच्चिदानन्दघनः परमात्मा पुरुषोत्तमः श्रीकृष्णः, ईश्वर पदार्थः। एतदेव परमात्मतत्वं निरूपयन् भगवान् निम्बार्काचार्यः कथयति--

स्वभावतोऽपास्त समस्तदोषमशेषकल्याणगुणैक राशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥ इति

गीतायां भगवान् श्रीकृष्णः स्वयमुपदिशति-''द्वाविमौपुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते। उत्तम पुरुषः स्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। एतावता जीवेश्वरयोः स्वरूपतो धर्मतश्चज्ञानवत्त्वेन चित्पदार्थत्वेऽपि जीवस्यैव विभाजकवाक्ये चित्पदार्थत्वकथनं कौरवत्वस्य धार्तराष्ट्रपाण्डवसाधारणत्वेऽपि धार्तराष्ट्राणामेव कौरवशब्दस्य बाहुल्येन व्यवहारवत् सामान्यविशेषाभिप्रायेण बोद्ध्यम् ।

११. सभेदमचेतनद्रव्यं निर्दिश्य द्वैताद्वैतविवेकोक्तरीत्याऽप्राकृततत्त्वं विवेचयत।

निम्बार्कदर्शने जीव-जगत्-ब्रह्मभेदेन त्रिविधं तत्त्वं साधितम् ''भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्त त्रिविधं ब्रह्म ह्येतत्'' इति श्रुतिवचनानुसारं तेषां स्वरूपतो भिन्नत्वेऽपि ब्रह्मात्मकत्वेनाभिन्नत्वं निर्दिश्यते। श्रुति स्मृति सूत्रादि शास्त्रेषु स्वभावतो निर्दिष्टं द्वैताद्वैतत्वं भेदाभेदत्वं वा सुदर्शनावतारेण श्रीमन्निम्बार्काचार्येण लोके प्रवर्तितम् । श्रुतौ भोग्यशब्देन वर्णितं तत्त्वमचेतनं ज्ञेयम् । तच्च प्राकृत-अप्राकृत-काल भेदेन त्रिविधं प्रोक्तम्। तत्र कालाधीनं परिणामि सत्वादिगुणरूपं सृष्टि स्थितिप्रलयगामि चतुर्दशभुवनात्मकं भगवतो नारायणस्य स्थूलं वपुः स्वरूपं जगत् प्राकृतमचेतनं द्रव्यमुच्यते। तथा च क्षण-लव-काष्ठा-मुहूर्त-दिवस-रात्रि-पक्ष-मास-सवत्सरादि परार्द्धपर्यन्तः सखण्डः प्राकृतनियन्ता, परमात्मनियम्यो, नित्योऽखण्डरूपः पदार्थः कालशब्देनाभि-धीयते।

एवं प्राकृतकालाभ्यां विलक्षणं यत् स्वरूपतः सच्चिदानन्दरूपत्वेऽपि धर्मतश्चैतन्यरहितत्वं वस्तु तदप्राकृतमचेतनद्रव्यमुच्यते । तस्य जीवब्रह्मणोरिव चिद्घनत्वेऽपि जीवेश्वरवत् धर्ममूतज्ञानस्याभावः। तावन्मात्रेणाचेतनत्व-व्यवहारः, न तु प्राकृतकालवत् स्वरूपतो जडत्वम्। तदेतद् भगवद्धाम-भूषण-विग्रह परिकदिरूपेण परिच्छेदशून्यं, कालनियम्याभावात् परिणामशून्यं नित्यमचिन्त्यं चाहुः ।

लोके यथा राजा कस्मिंश्चिदुत्सवादि प्रसङ्गे सेवकेभ्यो वस्त्रालङ्कारादिकं वस्तु पूर्वस्थापितमेव पुरस्काररूपेण ददाति तथैव परमात्मापि मुक्तजीवेभ्योऽ-

नादिसिद्धानि दिव्यानि विग्रहवस्त्राभूषणादीनि प्रयच्छति। यतो हि गोलोक-वैकुण्ठादि भगवद्धाम स्वयंप्रकाशरूपं, अनावरकं विद्यते। अतस्तच् चिद्घनमिति सिद्धम्। तथाचोक्तं श्रीकृष्णस्तवराजे--

''पारशून्यपरधामतेऽद्भुतं चिद्घनं जयति लोकमूर्धनि ।
व्यापकं च परिखा सरिद्वराऽचिन्त्यशक्तिनवमंगलध्वनि॥'' इति

एवमेव भगवान् श्रीकृष्णः कथयति-''न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।'' इति ''अदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'' इत्यादि श्रुतेश्च तस्य सूर्यचन्द्राग्निजन्य प्रकाशराहित्यं स्वयं प्रकाशरूपत्वमुक्तमिति दिक् ।

१२. द्वैताद्वैतविवेकग्रन्थस्य रचयितु परचयः प्रस्तूयताम्।

द्वैताद्वैतविवेक ग्रन्थस्य रचियता पदवाक्यप्रमाणपारावारीणो विद्वत्सु सादरं गणनीयः पण्डितप्रवरः श्रीभगीरथ झा महोदयः स्वसमयस्योद्भटो विद्वान् आसीत्। अमुष्य जन्म विहार राज्यस्य मिथिलायां ढङ्गाहरिपुरग्रामे बभूव। अस्य पितुर्नाम श्रीवच्चा झा, मातुश्चविमला देवी आसीत्। स बाल्य-कालादेव कुशाग्रमतिरासीत् ।

कञ्चित्कालं दरभङ्गाविश्वविद्यालये स्थित्वा तदनन्तरं काश्यां च उषित्वा न्यायव्याकरणवेदान्तादिशास्त्राणां साङ्गोपाङ्गमध्ययनमकरोत्। स शास्त्रार्थे निपुण आसीत्। शास्त्राणां स्वाध्यायः, मननं चिन्तनं च तस्य जीवनस्य प्रमुखमुद्देश्यमवर्तत। अद्वैतवेदान्तवद् वैष्णवदर्शनानामपि गहनमध्ययनं तेन विहितम्। एकदा काश्यां चौखम्बासंस्कृतपुस्तकालयेऽमुना महाभागेन निम्नाङ्कितौ श्लोकौ दृष्टौ पठितौ च ।

स्वभावतोऽपास्त समस्तदोषमशेषकल्याणगुणैक राशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।
अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥

अनयोः पद्ययोः श्रीराधाकृष्णयोः स्वरूपगुणमहिमादिकं ज्ञात्वा तदीय-मनसि जन्मान्तरीय संस्कारवशात् श्रीराधाकृष्णयुगलचरणाब्जयोः प्रेमलक्षणा-भक्तिरुदियाय। मनसि जिज्ञासा समुत्पन्ना यत् कस्य सम्प्रदायस्य धर्माचार्याणा-मियं रचना स्यात्। तदन्वेषणाय काशीतः श्रीधामवृन्दावनं प्राप्तवान् । तत्र

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायस्य वरिष्ठविदुषा पं० श्रीअमोलकरामशास्त्रिणा सह सम्पर्को जातः। तस्मादेव ज्ञातं यत् पूर्वोक्तयोः पद्ययो रचियता सुदर्शनचक्रावतारः श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यः अस्तीति। वेदान्तदशश्लोक्यां तत् पद्यद्वयं दृष्ट्वा निम्बार्कसम्प्रदायस्य समुपासनपरम्परायां दार्शनिकसिद्धान्ते च महती श्रद्धा समजायत ।

तदनन्तरमसौ महानुभावः वेदान्तनिधेः परमविदुषः श्रीवैष्णवदास-शास्त्रिमहाभागात् पञ्चसंस्कारपुरः सरां वैष्णवीं दीक्षां गृहीतवान्। एतादृशं विद्वन्मूर्धन्यं मनीषिणं पुरुषं प्राप्य श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायोऽपि गौरवान्वितोऽभवत्। असौ झा महानुभावः कञ्चित्कालं यावत् स्वगुरुवर्यैः सह वृन्दावने तथा मथुरायां श्रीनारदटीलास्थले निवासमकरोत्। ''शिलोञ्छवृत्या परितुष्टचित्तो धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः। मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठन् नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम्।'' इति शास्त्रोक्त पद्धत्या सद्गृहस्थरूपेण यावज्जीवनं समयं यामयामास।

एतस्य विदुषो वल्लभ सम्प्रदायस्य दार्शनिकग्रन्थानामपि गहनमध्य-नमासीत्। अतएव वृन्दावनात् केनचित् सम्पर्केण गुजरातराज्ये सूरतनगरंप्राप्य वल्लभसम्प्रदायस्य प्रमुखपीठे विंशति वर्षाणि यावत् अध्यापनकार्यं विहितम् । ततः पुनर्वृन्दावनं समागत्य भगवत उपासनायां स्थिरीभूय शास्त्रचिन्तनं ग्रन्थरचनां चाकरोत्। तस्मिन्नेव कालेऽद्वैतदर्शनविदां स्वामिश्रीअखण्डानन्द-सरस्वतीमहाभागानां समक्षे स्व-परदार्शनिकसिद्धान्तानां व्याख्यानं व्यदधात्। यतो हि स्वामिवर्याः श्रीभगीरथझामहोदयानां मुक्तकण्ठं प्रशंसां कुर्वन्तिस्म। अनेन विदुषा विविधा दार्शनिकग्रन्था रचिताः। येषु वेदान्ततत्वसमीक्षा, युग्मतत्त्वसमीक्षा, द्वैताद्वैत-विवेकः इत्यादयः प्रसिद्धाः। तस्य शिष्येषु अन्यतमः पं० श्रीवैद्यनाथझा (मैथिलः) व्या० न्या० वेदान्ताचार्यः राष्ट्रपतिसम्मानितो वृन्दावनस्थ स्नातकोत्तर श्रीनिम्बार्कसंस्कृतमहाविद्यालयस्य पूर्वप्राचार्यः सम्प्रति वृन्दावने एव ग्रन्थलेखनादिकार्यं कुर्वन् विराजते। गुरुवर्यास्तु जीवनस्योत्तरार्द्धे मिथिलायामेव स्वाध्यायरताः १९८० तमे इस्वीये षट्सप्तति वर्षीयाः दिवंगतवन्तः इति।

१३. विशिष्टाद्वैतमतस्य समीक्षा क्रियताम् ।

चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मेति विशिष्टाद्वैत मते चेतनाचेतनयोर्जीवजगतोः ब्रह्मणो विशेषणत्वेनाङ्गी क्रियते । अत्रेदं चिन्त्यते यद् विशेषणमितर व्यावर्तकं

भवति यथा नीलो घट इत्यादौ रक्तत्व-पीतत्वव्यावर्तकत्वं घटे नीलत्वविशेषणं प्रसिद्धम् तथा जीवजगद्भ्यां व्यतिरिक्त पदार्थत्वाभावाद् ब्रह्मणि तयोर्विशेणत्वं न सङ्गच्छते, अतोऽगत्या स्वाभाविक भेदाभेदएव प्रकारान्तरेण स्वीकर्तव्य भवेत्। ननु, ''यः पृथिव्यन्तरोऽयं पृथिवीं न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिव्यन्तरो यमयतीत्यारभ्य य आत्मनि तिष्ठन् यश्चात्मनोऽन्तरोऽयमात्मानं न वेद यस्यात्माशरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः'' इत्यादि श्रुतिभिश्चिदचितोः परमात्मशरीरत्वाभिधानात्। शरीरस्य चात्मविशेषणत्वेन प्रसिद्धत्वात् सर्वावस्थितचिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारः परमपुरुषः कार्यावस्थकारणावस्थजगद्रूपेणावस्थित इति कथं विशिष्टत्वस्यासम्भव इति चेत्सत्यम्--

श्रुतिभिश्चिदचितोः परमात्मनः शरीरत्वं प्रतिपाद्यते, इत्यत्र न कश्चिद्विवादः। परन्तु तयोर्विशेषणत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तथाहि यत्र यत्र शरीरत्वं तत्र तत्र विशेषणत्वमिति नास्ति नियमः प्रकृते तदभावात्। नहि व्यावर्तकत्वमन्तरेण विशेषणस्य कस्यापि कुत्रचिद् दृष्टं श्रुतं वा। तस्माद् व्यावर्त्यसत्वे एव शरीरस्य विशेषणत्वम्, अन्यत्र व्यावर्त्यानामसत्वे शरीरस्य विशेषणत्वा सम्भवात्। प्रकृते चिदाचितोर्विशेषणत्वे चिदचिद्ब्रह्मेति तत्त्वत्रयादन्यस्याभावात्, भवद्भिरपितथानङ्गीकाराच्च व्यावर्त्याभावाद् व्यावर्तकरूप विशेषणस्याभावस्तदभावे च ब्रह्मणोविशिष्टत्वाभावः सुतरां सिद्धः। अतो मास्तुविशेषणत्वम्। एतावान् मात्र न्यूनत्वे न कापिक्षतिः। तयोर्ब्रह्मणा स्वाभाविकभेदाभेदाङ्गीकारेण सर्वेषां वाक्यानां स्वार्थे प्रामाण्यादिति दिक् ।

१४. ''तत्त्वमसि'' इति महावाक्यस्यार्थं विशदयत ।

तत्त्वमसीत्यत्र तच्छब्दो विश्वात्मसर्वज्ञ-सर्वशक्ति-स्वतन्त्रसत्ताश्रय-परब्रह्मप्रतिपादनपरः। त्वं शब्दश्च तदात्मीय-तदात्मक परतन्त्रसत्ताश्रय-जीवात्मवाचकः। असि शब्दश्चोभयपदार्थसम्बधाभिधानपरः। स च सम्बन्धस्तदात्मकस्य त्वं पदवाच्यस्य तत्पदार्थेन सह स्वतन्त्रसत्त्वाभेदसहिष्णु परतन्त्रसत्त्वभेदरूपः। तत्पदार्थवृत्तिस्वातन्त्र्यसत्त्वाश्रयाभिन्नब्रह्मात्मक परतन्त्रसत्ताश्रयभिन्नस्त्वंपदार्थ इति वाक्यार्थः। तत्पदार्थो विश्वात्मा त्वं पदार्थश्च क्षेत्रज्ञान्तरात्मा, तयोरभेदो घटो द्रव्यं पृथिवीद्रव्यमितिवद् मुख्य एव ।

ननु तत्पदार्थो विश्वात्मा पुरुषोत्तम इति निर्विवादत्वान्नात्र शङ्कावसरः।

परन्तु त्वं पदार्थस्य क्षेत्रज्ञतया सुप्रसिद्धत्वात् कथमिव क्षेत्रज्ञान्तरात्मत्वं प्रतिपाद्यत इति चेदुच्यते--

यथा "अग्नेर्ढक्" इत्यत्राग्निशब्दोऽकार-गकाराद्यवच्छिन्नानुपूर्विकाक्षरसमूहाग्नि शब्दवाचकः । "अग्नौ जुहोति"त्यत्र स एवाग्नि शब्दो दहन-प्रकाशन शक्त्यवच्छिन्नवस्तुवाचकः। उभयार्थवाचकत्वमग्निशब्दस्य शक्यत्वेन मुख्यमेवेति शाब्दिकानां मतं तथैव ह्यौपनिषदानां सिद्धान्ते सर्वेषामपि ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिचेतनाचेतनवस्तुमात्रपराणां शब्दानां तत्पदार्थवाचकत्वे तदात्मभूत-ब्रह्मपरत्वमविरुद्धं,ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वात् ।

यथाचतुर्मुखादि पिण्डाश्चतुर्मुखादि शब्दानां शक्याः तत्तदवच्छिन्नास्तत्तच्चेतयितारश्च। उभयेऽपि चतुर्मुखादि शब्दैर्विधातुं शक्यास्तथैव चतुर्मुखादि पिण्डाऽवच्छिन्नक्षेत्रज्ञाभिधानपरत्वे तेषामन्तरात्मत्वाद् ब्रह्माभिधान परत्वं वक्तुं सुशकमिति। एतदभिप्रेत्य वस्तुजातस्य ब्रह्मात्मकत्वमुद्घोषयन्ति श्रुतयः-"भोक्ताभोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म ह्येत"दित्याद्याः इतिदिक्।

१५.अर्थपञ्चकस्यस्वरूपं यथाशास्त्रं विवेचयत।

श्रीमन्निम्बार्काचार्यचरणैः स्वरचितवेदान्तदशश्लोक्यां "नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्" "कृपास्यदैन्यादियुजिप्रजायते" इति श्लोकद्वयेन साधन-तत्त्वं संक्षेपेण निरूपितम्। तदनन्तरं फलनिरूपणे सर्वशास्त्रं संगृह्णन् पूर्वप्रतिपादितं तत्त्वमर्थपञ्चकरूपेण सर्वेषामुपकाराय पुनः संस्मार्यते--

"उपास्यरूपं तदुपासकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम् ।
विरोधिनोरूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः ॥"

अथ उपास्यरूपं तदुपासकस्य (रूपं) कृपाफलं भक्तिरसः ततः परं एतदाप्तेः विरोधिनोरूपं च इमे पञ्चापि अर्थाः साधुभिः ज्ञेयाः इत्यन्वयः। उपास्य-रूपम्-उपासितुं योग्यमुपास्यं तस्य रूपं उपास्यरूपमिति। अर्थात् उपास्यस्य भगवतः श्रीपुरुषोत्तमस्य स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषस्य, अशेषकल्याणगुणैकराशेः श्रीभूलीलादिशक्तिविशिष्टस्य वरेण्यस्य परब्रह्मणः श्रीकृष्णस्य रूपं स्वरूपं सर्वैर्मुमुक्षुभिः साधकैः ज्ञातव्यम्, तथा च तदुपासकस्य-तस्य परमात्मनः उपासकस्य, उपास्ते-इतिकर्तरि ण्वुल् प्रत्ययः तदाराधकस्य रूपमर्थाद् देहेन्द्रियादिजडवर्गेभ्यो विलक्षणत्वं ज्ञानस्वरूपत्वे सति ज्ञानाश्रयत्वं, भगवदधीन-स्थिति प्रवृत्तिकत्वं प्रतिदेहभिन्नत्वमणुरूपत्वं च बोध्यम् ।

एवं कृपाफलं मोक्षौपयिकं करुणार्णवस्य भगवतः श्रीहरेः कृपाया अनुकम्पायाः फलं फलरूपं साधनसाध्यापरा-परारूपं भक्तितत्वमपि सम्यक्तया बोद्धव्यम्। भक्तिरसः भक्त्या-भगवत्कृपैकलभ्यया प्रेमलक्षणया भक्त्या रस्यते आस्वाद्यते इति रसः भक्तेः रसः भक्तिरस इति भगवद्भावापत्तिरूप मोक्षलक्षणः सायुज्यादिशब्दाभिधेयः ''परं ज्योति रुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्प-द्यते'' इत्यादिवचनैः सुखभावैकलक्षणः श्रीकृष्णसम्प्राप्तिरेव भक्तिरसशब्देन व्यवह्रियते। एतदेव कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्तिगुर्वाज्ञानुवृत्तिरूपसाधनैः प्राप्यमाणं भगवद्भावापत्तिरूपमोक्षलक्षणं विवक्षितम्। अथ तदनन्तरं एतदाप्तेः-भगवत्प्राप्तेर्विरोधिनोरूपमपि सर्वैः साधुभिः ज्ञेयम्। साध्नोतिपरकर्माणि स्वकार्याणि चेति व्युत्पत्या साधुशब्दः साधकपर इति। इदमेव-उपास्यरूपं उपासकरूपं, कृपाफलं भक्तिरसत्वं विरोधिनो रूपञ्चेत्यर्थपञ्चकमुच्यते। देहेन्द्रियात्मभावः, स्वस्य स्वतन्त्रकर्तृत्वम् गुरौ मानुषबुद्धिः, मन्त्रेष्व विश्वासः शास्त्रविरुद्धाचरण-मित्यादि भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकत्वेन सामान्य-विशेषभेदात् अनेकविधं विरोधितत्वं ज्ञात्वा तत्परिहारः कर्तव्य इतिदिक् ।

१६.चिदचिदीश्वरराणां त्रयाणां स्वरूपतः स्वभावतश्च वैलक्षण्यं सप्रमाणं विवेचयत ।

''प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः'' ''भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च'' ''सदेव सौम्येदमग्र आसी''दिव्यादिश्रुतिवाक्येषु प्रधान-भोग्य-इदमादिशब्दैः ''द्वाविमौ पुरुषौलोके क्षरश्चारक्षर एव च, क्षरः सर्वाणिभूतानि कूटस्थोऽक्षरउच्यते। ''उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः'' ''क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम'' इत्यादिस्मृतिषु क्षर-प्रकृति-क्षेत्रत्यादिशब्दैः यत्तत्वं निर्दिष्टं तत् अचित् तत्त्वं कथ्यते । ब्रह्मादि स्थावरान्तानि शरीराणि जडत्वात् परिणामित्वात् क्षरः पुरुषः अन्नमयपुरुषो नश्वरदेहः क्षरशब्दार्थः । अत्रैक वचनं जात्यभिप्रायेण। अत एव ''क्षरः सर्वाणि भूतानि'' इति विवरणं सङ्गच्छते। ''भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।'' इत्यत्र यन्त्रारूढानि, इत्यनेन प्रकृतिपरिणामदेहेन्द्रियादिरूपाणि यन्त्रमारुढानि-सूत्रबद्धानि। सूत्रधारो यथालोके सूत्रबद्धान् मर्कटादीन् भ्रामयति तद्वत् परमात्माधीनमेतत्सर्वं जगत् इति चैतन्याज्जीवात् सर्वनियन्तु-रीश्वरादपि विलक्षणं प्रकृतितत्त्वमिति।

तत्रैव क्षेत्रज्ञ-भोक्ता-अक्षरादिशब्दैर्यन्निर्दिष्टंतदेव चित्तत्वमभिधीयते।

कूटस्थः-कूटे प्रकृतिकार्यभूते शरीरसमुदाये स्थितोऽपि परिणामनाशरहितो नित्यः कूटस्थपुरुषः अक्षरशब्दार्थः। अत्राप्येक वचनं जात्यभिप्रायेण, अत एव ''अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः'' इत्यादिवचनैर्जन्मादि षड्विकाररहितो जीव उच्यते। अयं च ज्ञानस्वरूपत्वात् ज्ञानाश्रयत्वाच्च प्रकृतिजडवर्गाद् विलक्षणः, व्याप्यत्वात् नियम्यत्वात्, ब्रह्माधीनस्थिति प्रवृत्तिकत्वात् परब्रह्मणः सर्वेश्वराच्च विलक्षण उच्यते ।

एवमेवोक्तश्रुतिषु पति-गुणेश-प्रेरितादिशब्दैर्निर्दिष्टं ''उत्तमः पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः। यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मिलेके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः'' इत्यादि स्मृति वचनैः यदुक्तं तदीश्वर तत्त्वमिति मन्तव्यम् । उत्तमः-उत्कृष्टतमः पुरुषस्तु क्षराक्षराशब्दनिर्दिष्टाभ्यां द्वाभ्यामन्यो विलक्षणः परमात्मा इति-उदाहृतः-कथितः। ''परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः'' इति स्मृतेः। कोऽसौ परमात्मा-इति जिज्ञासायामुच्यते य आत्मतया लोकत्रयमाविश्य विभर्ति-धारयति पालयति च। एवमव्ययोऽविनाशी, ईश्वरः सर्वलोकनियामकः। यस्मात् क्षरं पुरुषं भोग्यभूतं सर्वभूतात्मकं जडमतीतोऽहम्, अक्षरात् कुटस्थात् भोक्तुर्विज्ञानमयात्पुरुषादपि उत्तमः उत्कृष्टः। तस्यापिनियामकत्वात्। अतः-अस्मात् कारणात् लोके वेदे चाहं सर्वेश्वरः पुरुषोत्तम इति पदेन प्रथितोविख्यातोऽस्मि।

अत्र लोक्यते दृश्यते वेदार्थोनेनेति लोकइति, इतिहासपुराणादिशास्त्र-समूहोविवक्षितः ''स उत्तमः पुरुषः'' इत्यादिवेदेचविविक्षितः। इत्येवं श्रुति-स्मृति-सूत्रतन्त्रादिप्रमाणेभ्यश्चिदचिदीश्वराणां त्रयाणां स्वरूपतः स्वभावतश्च वैलक्षण्यं सिद्धयतीति दिक् ।

१७. लक्षणभेदपुरःसरं कालतत्त्वं निरूपयत ।

प्राकृताप्राकृतोभयभिन्नत्वे सत्यचेतन द्रव्यविशेषः कालः इत्युच्यते। स सखण्डोऽखण्डश्चेतिद्विविधः। तत्र सखण्डोऽनित्यः, अखण्डस्तु नित्योविभुश्च। ''अथ ह वा नित्यः पुरुषः प्रकृतिः कालश्च'' इतिश्रुतेः। सखण्डश्च भूत-भविष्य-द्वर्तमान-चिरक्षिप्रादिव्यवहार हेतुः, सर्गप्रलययोर्निमित्तं, परमाण्वादि परार्द्धपर्यन्तव्यवहारासाधारणकारणं च भवति। यावता दिवाकरः परमाणु-परिमाणकं देशमाक्रामति स कालः परमाणुशब्दाभिधेयोऽतिसूक्ष्मो भवति। द्वाभ्यां परमाणुभ्यां द्व्यणुकः, त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्रसरेणुः, त्रसरेणुत्रिकं त्रुटिः,त्रुटिशतं

वेधः, त्रिभिर्वेधैर्लवः, त्रिभिर्लवैर्निमेषः, पञ्चदशनिमेषैः काष्ठा, त्रिंशता काष्ठाभिः कला, कलानां त्रिंशत् मुहूर्तः, त्रिंशन्मुहुर्तैमानुषमहोरात्रम्, तैः पञ्चदशभिः पक्षः, द्वाभ्यां पक्षाभ्यां मासः, मासद्वयेन-ऋतुः। त्रिभिर्ऋतुभिः (षड्भिर्मासैः) अयनम्, अयनद्वयेन (द्वादभिर्मासैः) संवत्सरो मानुषो जायते। उत्तरायणं देवानामहः, दक्षिणायनं च रात्रिः। एवं मानुषवर्षेण देवानामहोरात्रम्, षष्ट्यधिकत्रिशत-परिमितैःमानुषवर्षैरेकोदैवः संवत्सरः। दिव्यैर्द्वादशसहस्रवत्सरैश्चतुर्युग परिमितः कालः। सहस्र चतुर्युगपरिमितः कालो ब्रह्मणो दिनं तावता च रात्रिः। इत्थं अणोरणीमान् महतो महीयान् इति वचनात् द्विपरार्द्धपरिमितो महीयान् कालखण्डश्चतुर्मुखस्यब्रह्मणः परमायुरुच्यते ।

चतुर्दशभुवनात्मकं सर्वमपि प्राकृतं जगत् कालाधीनम्, सर्वजगतो नियामकत्वेऽपिकालस्य परमेश्वरनियम्यत्वमेव। अतः हरेरधीनमित्याचार्योक्तिः सङ्गच्छते । ''स कालकालो गुणी सर्ववेद्यः'' इत्यादि श्रुतिप्रमाणाच्च काल-नियामकत्वं ब्रह्मणः सिद्धयति। लीलाविभूतौ तु परमेश्वरस्य कालपारतन्त्र्यमनु-करणमात्रम्। तथा वत्सहरणप्रसङ्गे संवत्सरात्मककालस्यैकस्मिन् दिवसे संकोचः, महारासलीलायाञ्च लघीयस्या मानुषीरात्रेः दैवीरात्रौविकास इति श्रीकृष्णस्य सर्वेश्वरत्वंसर्वनियन्तृत्वं च व्यनक्ति-इतिदिक् ।

१८. मायाबद्धजीवस्य मायानिवृत्त्युपायं विलिख्य जीवभेदान् निरूपयत।

यद्यपि ''अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति'' इति श्रुतिप्रमाणात् प्रत्यगात्मनो ज्ञानस्वरूपत्वे सर्वेजनैः स सदाऽनुभवितव्यस्तथापि मायावृतत्वा-न्नानुभूयतेइत्यभिप्रेत्योच्यते ''अनादिमाया परियुक्तरूपमिति'' अनाद्या आद्यन्तरहितया नित्यया मायया गुणमय्या प्रकृत्या परियुक्तं परिवेष्टितं रूपं यस्य तम् पुरुषोत्तमपराङ्मुखत्वेन अनादिमायया संकुचितधर्मभूतज्ञानमित्यर्थः। यथा घटाऽभ्यन्तरस्थोदीपो बहिर्न प्रकाशते तथैवात्मापि मायावृतज्ञानत्वात् सर्वानुभवविषयो न भवति। एवं चेत्तज्जिज्ञासाविषयकशास्त्राणामुपदेशपरम्पराणां च वैयर्थ्यं स्यादिति विचिकित्सायामाह-''त्वेनं विदुर्वै भगवत् प्रसादात्'' अत्र तु शब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः। वै इति निश्चयार्थकः। एवं शास्त्रप्रमाणसिद्धं जीवात्मानं भगवच्छरणापन्नाः सत्सम्प्रदायानुवर्तिनो भागवताः, भगवत्प्रसादात् श्रीपुरुषोत्तमानुग्रहाद् विदुः-जानन्ति नान्ये। तथा चोक्तं भगवता श्रीकृष्णेन ''दैवी

ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'' इत्यतो भगवतो मायेश्वरस्यानुग्रहं विना जीवानां स्वस्वरूपबोधो मायानिवृत्तिश्च न जायते। तदनुग्रहश्च गुर्वाज्ञानुवृत्तिपूर्विकां प्रपत्तिं विना न सम्भवति। एवं च सत्सम्प्रदायनिष्ठैर्वैष्णवै दुर्जेयामपिमायां विजित्य-आत्मसाक्षात्कारः क्रियते। अतो जिज्ञासाविषयक शास्त्राणामुपदेशपरम्पराणां च वैयर्थ्याभावः इति।

जीवं विभजति-जीवोऽष्टविधः-अष्टप्रकारकः, जीवस्याष्टावस्था संज्ञेत्यर्थः। तथाहि-''मुक्तं च बद्धं किलबद्धमुक्तं प्रभेदबाहुल्यमथाऽपि बोध्यम्। इति अस्यायं भावः-मुक्तबद्धभेदेनतावज्जीवाद्विविधाः। नित्यमुक्त-मुक्तभेदेन मुक्ता द्विविधाः। बद्धाअपि मुमुक्षु-बुभुक्षु भेदेन द्विविधाः। तत्र संसार दुःखानुभवरहितत्वेसति भगवदधीना निरतिशयानन्दलीना नित्यमुक्ताः, आनन्तर्य-पार्षदरूपाः। ते च शंख-चक्र-किरीट कुण्डलवंश्यादय आनन्तर्याः, विष्वक्सेन-गरुडादयः पार्षदाः। स्वस्वरूपानन्दप्राप्ताः भगवद्भावानन्दप्राप्ता मुक्ता अपि द्विविधाः। तथा चोक्तं कृष्णस्तवराजे ''आत्मभावमनुभूतिरूपिणो ये वदन्ति तवरूपरूपिणः। ब्रह्मभावपरमात्मभावतः सत्यमेवसुखबोधरूपिणः।'' इति। विषयभोगोपरतित्वे सति भगवत्प्राप्तिसाधनयुक्ता मुमुक्षवः अपि द्विविधाः। ते च भगवद्भावापत्तिलक्षणमोक्षकामाः निजस्वरूपापत्तिमोक्षकामाः। बुभुक्षवोऽपि केचित् विषयभोगप्रवृत्तत्वे सति स्वर्गादिदिव्यलोकेप्सवो भाविश्रेयस्कामाः, अन्ये विषयमात्रसक्ता नित्यसंसारिण इति। एवमष्टविधा जीवाः शास्त्रेषु वर्णिता ज्ञेया इतिदिक्।

१६. शास्त्रप्रमाणैः परमात्मतत्त्वं निरूपयत ।

वेदान्तिनश्चिदचिद्ब्रह्मेति तत्त्वत्रयमेव स्वीकुर्वन्ति। तत्रब्रह्मपदार्थं निरूपयन्त आहुः-''तत्त्वमसि इत्यत्र तत्पदेन, अहं ब्रह्मास्मि'' इत्यत्र ब्रह्मपदेन ब्रह्मपदार्थो निर्दिश्यते। ''सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म'' ''वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानितिशब्द्यते'' इत्यादिश्रुतिस्मृतिवचनैः सच्चिदानन्दस्वरूपः सर्वेश्वरः परब्रह्म पुरुषोत्तमः परमात्मेत्युच्यते। स्वरूप-विग्रहभेदेन परमात्मनो द्विविधागुणाः शास्त्रेषुवर्णिताः सन्ति। ''ज्ञानशक्तिवलैश्वर्यतेजोवीर्याण्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः। ''यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्'' इत्यादि शास्त्रवचनैः स्वरूप-विग्रहगुणाः संगृह्यन्ते। अतएव सार्वज्ञ्य-सौशील्य-सौन्दर्य-माधुर्याद्यचिन्त्यगुणशक्तिविशिष्टः

श्रीकृष्णः पुरुषोत्तमपदार्थः। सर्वव्यापकत्वाद् ब्रह्मेति कथ्यते। कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा-कर्त्तुंसर्वसमर्थवत्त्वात् ईश्वर इत्युच्यते। समग्रमैश्वर्यं धर्मो यशः श्रीर्ज्ञानं वैराग्य-मित्येतानि षड्भगशब्दवाच्यानि। भगोऽस्यास्तीत्यर्थे मतुपि भगवान् इति शब्दो निष्पद्यते। स च परिपूर्णषडैश्वर्यसम्पन्नः परमात्मेति भावः ।

यद्यपि निर्गुण-निरञ्जनादिशब्ददृष्ट्या ब्रह्म निर्गुणं निराकारं निर्विशेषं च मन्यते तथापि श्रुतिषु निर्गुणादिशब्दानां तात्पर्यं प्रकृतिगतसत्वादिगुणानां ब्रह्मणि राहित्यमितिसिद्धम्। तथा च स्वभावतोऽपास्तमस्तदोषः अनन्त-कल्याणगुणगणैकनिलयः परमात्मेति सिद्धान्तः। एवं च ''अणोरणीयान् महतो-महीयान्'' इत्यादि विरुद्धधर्मा यथा ब्रह्मण्यविरोधेन विद्यन्ते तथैव सविशेषत्व निर्विशेषत्वादयोऽपि स्वभावतः सिद्ध्यन्ति। अत एव पूर्वाचार्यपादाः स्तुति व्याजेन ''शान्ति कान्ति गुणमन्दिरं हरिं स्थेमसृष्टिलयमोक्षकारणम्।

व्यापिनं परम सत्यमंशिनं नौमि नन्दगृहचन्दिनं प्रभुम्।'' इत्यादिना लीला पुरुषोत्तमस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य स्वरूपविग्रहगुणाश्रयत्वं, जगदभिन्ननि-मित्तोपादानकारणत्वं, मोक्षदातृत्वं, सर्वव्यापकत्वं चिदचितोरंशित्वं च प्रतिपादितवन्तः। एवमेव श्रीभूलीलादि शक्तिविशिष्टः परमात्मा सर्वैर्मुमुक्षुभि-रुपासनीयः। तत्र रुक्मिणी-ऐश्वर्यधिष्ठात्री श्रीशक्तिः, सत्यभामाऽधाररूपा भूशक्तिः, वृषभानुनन्दिनीश्रीराधा श्रीकृष्णस्याह्लादिनी लीलाशक्तिर्विद्यते। तथा चाह श्रुतिः ''श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ'' इत्यादि अत्रलक्ष्मीशब्देनरमा-रुक्मिणी गृह्यते, श्रीशब्देन राधागृह्यते चकारात् सत्यभामा भूशक्तिर्गृह्यते। एतेन शक्तित्रयेण युक्तो भगवान् श्रीकृष्ण एवाराधनीयः। इति दिक्।

२०. वैराग्यं कतिविधम् ? किञ्चतत्स्वरूमिति सोदाहरणं प्रतिपादयत ।

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादिविषयेभ्य इन्द्रियैःसह मनसो निवर्तनं वैराग्यं कथ्यते। विषयोपभोगेसत्यपि तत्रासक्तिरहितत्वं च वैराग्यमुच्यते। तच्च द्विविधं सहेतुकं निर्हेतुकञ्च। तत्र स्वस्यातिशयप्रियत्वेनाभिमतानां पुत्रकलत्र धनैश्वर्यादीनां वियोगेन विरुद्धत्वेन वा, तद्विपरीताभिमतेन दारिद्र्यादिदुःखेनो-त्पन्नं वैराग्यं सहेतुकं मन्यते। तादृशं वैराग्यमविवेकजन्यत्वाद् व्यभिचारयुक्तं भवति। अर्थात् विषयादीनां पुत्रकलत्रादीनामनुकूलत्वे पुनः संसारासक्तिर्भवि-ष्यति। अतस्तादृशं वैराग्यं व्यभिचारयुक्तमुक्तम् ।

अत एव ''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो''रित्युच्यते ।

यदि करुणासागरस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य कृपाकटाक्षेण, ज्ञानवैराग्यविभूषितानां भागवतानां सत्संगेन, जन्मजन्मार्जितपुण्यपुञ्जस्य प्रभावेण शास्त्रीयाचरणे प्रवृत्तिर्भवेत्तर्हि भूयोभूयः श्रीहरेराराधनजन्यभक्तिप्राबल्येन स्वतो विषयोपभोग-राहित्याज्जायमानं वैराग्यं निर्हेतुकं कथ्यते। तस्य पुनः संसारासक्तिर्नसंभवतीति व्यभिचाराभात् सुदृढंभवति। तथाचोक्तं गीतायाम्--"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः"। इति। "मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद" इत्यादि श्रुतेः प्रशस्तमातृपितृकोजनः सद्‌गुरोः शरणं प्राप्य ब्रह्मविद्यामधिगच्छति, ततोजातवैराग्येन निरन्तरं भगवतः प्राप्तये सँल्लग्नो भवति। अत एवोक्तं "अत्रजन्मसहस्राणां सहस्रेष्वपि सत्तमः। कदाचिल्ल-भते जन्तु र्मानुष्यं पुण्यसञ्चात्" इति। तस्माद् वैराग्ये मनुष्यस्यैवाधिकारस्तत एव मोक्षोपलब्धिरित्याशयः ।

पुनश्च प्रकारान्तरेण वैराग्यं विभज्यते--जिहासोद्भवं सद्योजात-मितिद्विविधम्। पुत्रकलत्रादीन् जिहासुना महर्षिणा सौभरिणा प्रोक्तम्--

"पद्भ्यां गता यौवनिनश्चजाता दारैश्च संयोगगताः प्रसूताः। दृष्टा सुतास्तत्तनयप्रसूतिं द्रष्टुं पुनर्वाञ्छति मानसं मे। द्रक्ष्यामि तेषामपि चेत्प्रसूतिं मनोरथो मे भविता ततोऽन्यः। पूर्णेऽपि तस्याप्यपरस्य जन्म निवार्यते केन मनोरथस्य।" इत्यादि।

द्वितीयं सद्योजातं च वैराग्यं महाराजस्य ययातेः प्रसङ्गेन ज्ञायते--तथा चोक्तम्--

"न जातु कामकामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्मेव भूय एवाभिवर्धते ।
तस्मादेतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधायमानसम् ।
निर्द्वन्द्वो निर्ममो भूत्वा चरिष्यामि मृगैः सह" इत्यादिनेतिदिक्।

वीतराग तपोमूर्ति विविधशास्त्रमर्मज्ञ
एवं
अनेक दार्शनिक ग्रन्थों के रचयिता
श्री वैष्णवदास जी शास्त्री
ग्रन्थकार के दीक्षागुरु
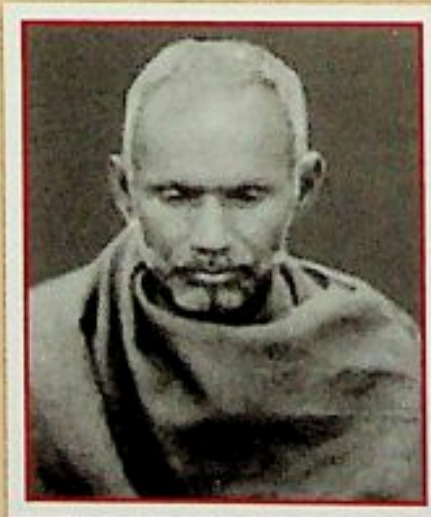
पद वाक्य प्रमाण पारावारीण
पण्डित प्रवर श्री भगीरथ झा मैथिल
न्यायवेदान्तार्य
द्वैताद्वैत विवेक ग्रन्थ के रचयिता
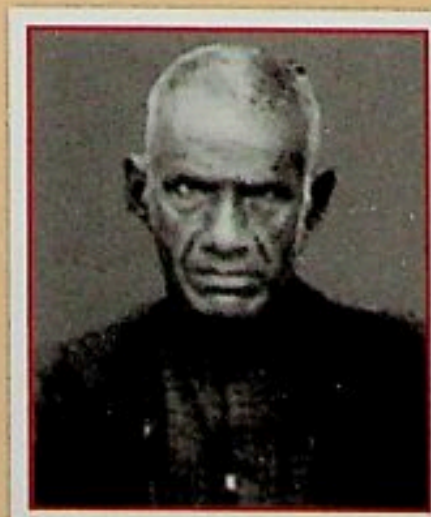
परमविरक्त श्रीमद्भागवत प्रवक्ता
पं. श्री बिहारीदास जी त्यागी
गौतम ऋषि आश्रम
वाराहघाट वृन्दावन (मथुरा)
श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के विविध ग्रन्थों के
प्रकाशक